विवेक-ज्योति

वर्ष ४३ अंक १२ दिसम्बर २००५ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

JUST RELEASED

VOLUME III
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the third volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Vol. I to V Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

- Sri Ma Darshan Vol. I to XVI Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

  In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.

ENGLISH SECTION

- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Vol. I to III Rs. 450.00 for all three volumes (plus postage Rs. 60)
- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X Rs. 900.00 per set (English version of Sri Ma Darshan) (plus postage Rs. 100)
- Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
- A Short Life of M. Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

- Sri Ma Darshan Vol. I to XVI Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh - 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २००५

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक १२

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें}

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०७७१ - २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट — **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

आदित्यस्य गतागतैरहरहःसंक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ।।४३।।

अन्वय – आदित्यस्य गत-आगतैः जीवितम् अहः अहः संक्षीयते, बहु-कार्य-भार-गुरुभिः व्यापारैः कालः अपि न ज्ञायते, जन्म-जरा-विपत्ति-मरणं दृष्ट्वा च त्रासः न उत्पद्यते, पीत्वा मोह-मयीं प्रमाद-मदिराम् उन्मत्त-भूतं जगत् ।।

भावार्थ – सूर्य के उदय व अस्त के साथ-ही-साथ आयु का भी क्षय होता रहता है। जीवन के विविध प्रकार के कर्तव्य-कर्मों की व्यस्तता के बीच समय के बीतने का बोध ही नहीं रहता। आँखों के सामने ही जन्म, बुढ़ापा, संकट तथा मृत्यु के कष्टों को देखकर भी मन में भय का संचार नहीं होता। सचमुच ही विस्मृति रूपी मोह-मदिरा को पीकर यह संसार मतवाला हो रहा है।

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा मुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।
व्यापारैः पुनरुक्तभूतविषयैरित्थंविधेनामुना
संसारेण कदर्थिता वयमहो मोहान्न लज्जामहे ।।४४।।

अन्वय – पुनः सा एव रात्रिः सः एव दिवसः, मत्वा उद्यमिनः जन्तवः निभृत-प्रारब्ध-तत्-तत्-क्रियाः तथा एव पुनः उक्त-भूत-विषयैः व्यापारैः मुधा धावन्ति। अहो, इत्थं-विधेन अमुना संसारेण कदर्थिता वयम् मोहात् न लज्जामहे ।।

भावार्थ – यह रात पिछली रात के ही समान है और आज का दिन भी वैसा ही है – यह जानकर भी उद्यमों में लगे हुए लोग छिपे हुए प्रारब्ध द्वारा परिचालित उस एक ही कार्य में लगे रहते हैं, उसी प्रकार फिर उन्हीं भोगे हुए विषयों से सम्बन्धित कार्यों के पीछे व्यर्थ ही दौड़ते रहते हैं। अहो ! इस प्रकार के परिवर्तनशील संसार के द्वारा दुर्दशाग्रस्त होकर भी हम अज्ञान के कारण लज्जित नहीं होते !

– भर्तृहरि

सारदा-वन्दन

(राग-भैरवी – ताल-रूपक)

हे भवानी सारदे तुम, विश्व की आधार हो,
ब्रह्म निर्गुण है मगर तुम, गुणमयी साकार हो ।।१।।

कल्प के प्रारम्भ में माँ, सृष्टि करती हो तुम्हीं;
और जब आता समय, संहार भी करती तुम्हीं;
जीव-ममता से द्रवित उर, तुम ही पालनहार हो ।
हे भवानी सारदे तुम, विश्व की आधार हो ।।२।।

जीव सारे चर-अचर औ
अखिल यह ब्रह्माण्ड सारा,
सप्त लोकों तक विराजित
राज्य यह फैला तुम्हारा;
तव कृपा की दृष्टि हो तो
जीव का उद्धार हो ।
हे भवानी सारदे तुम,
विश्व की आधार हो ।।३।।

विश्व के निर्माण में तुम
स्वयं आद्या शक्ति हो
जीव के निर्वाण में भी
तुम ही प्रज्ञा-भक्ति हो;
और सब निस्सार जग में
एक तुम ही सार हो ।
हे भवानी सारदे तुम,
विश्व की आधार हो ।।४।।

आ गया हूँ मैं शरण में
छोड़ दुनिया के झमेले,
एक निष्ठा तव चरण में
चल रहा पथ में अकेले;
तुम सहारा दो जननि
तत्काल बेड़ा पार हो ।
हे भवानी सारदे तुम,
विश्व की आधार हो ।।५।।

– *विदेह*

नारियों की शिक्षा (१)

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षकों तथा छात्रों – दोनों को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है, यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमश: उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

नारी-शिक्षा की आवश्यकता

तुम्हारे देश में स्त्रियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं दीख पड़ता। तुम लोग स्वयं पढ़-लिखकर योग्य बन रहे हो, परन्तु जो तुम्हारे सुख-दुख की भागी हैं, प्रति क्षण जी-जान से सेवा करती हैं, उनकी शिक्षा के लिए, उनके उत्थान के लिए तुम लोग क्या कर रहे हो?" ... तुम्हारे धर्मशास्त्र और देश की परिपाटी के अनुसार क्या कहीं कोई पाठशाला है? स्त्रियों की बात तो जाने दो; इस देश के पुरुषों में भी शिक्षा का विस्तार अधिक नहीं है। इसीलिये सरकारी आँकड़ों में जब देखा जाता है कि भारतवर्ष में केवल दस-बारह प्रतिशत लोग ही शिक्षित हैं, तो लगता है कि स्त्रियों में एक प्रतिशत भी शिक्षित न होंगी। ऐसा न होता, तो देश की ऐसी दुर्दशा क्यों होती? शिक्षा का विस्तार तथा ज्ञान का उन्मेष हुए बिना देश की उन्नति कैसे होगी? तुममें से जो शिक्षित हैं और जिन पर देश की भावी आशा निर्भर है, उनके द्वारा भी इस दिशा में कोई चेष्टा या उद्यम नहीं पाया जाता। **स्मरण रहे कि जन-साधारण और स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुए बिना उन्नति का कोई उपाय नहीं है।**[२५७] विभिन्न कालों में कई असभ्य जातियों ने भारत पर आक्रमण किया था, प्रधानत: इसी कारण भारतीय महिलाएँ इतनी पिछड़ी हैं। फिर इसमें कुछ दोष तो हमारे अपने भी हैं।[२५८] युगों के जिस मानसिक, नैतिक और शारीरिक अत्याचार ने ईश्वर के प्रतिमा-रूपी मनुष्य को भारवाही पशु, भगवती की प्रतिमा-रूपिणी नारी को सन्तान पैदा करनेवाली दासी और उनके जीवन को अभिशाप बना दिया है, उसकी वे कल्पना भी नहीं कर पाते।[२५९]

स्त्रियों को शिक्षा देने का हमारे धर्म में निषेध ही नहीं है। ... बालिकाओं को पढ़ाना होगा, उन्हें गढ़ लेना होगा। पुराने ग्रन्थों में लिखा है कि विद्यापीठों में बालक-बालिकाएँ दोनों ही जाते थे। पर बाद में पूरे राष्ट्र में शिक्षा उपेक्षित हो गयी।[२६०]

अमेरिका की महिलाएँ

अमेरिका एक अद्‌भुत देश है। निर्धनों तथा नारियों के लिए यह नन्दनवन-स्वरूप है। इस देश में निर्धन तो नहीं के बराबर हैं और संसार में कहीं भी स्त्रियाँ इतनी स्वतंत्र, इतनी शिक्षित और इतनी सुसंस्कृत नहीं है। वे समाज में सब कुछ हैं।[२६१] इनकी नारियाँ संसार में सर्वाधिक उन्नत हैं। सामान्यत: अमेरिकी पुरुषों की अपेक्षा अमेरिकी महिलाएँ बहुत अधिक सुसंस्कृत हैं।[२६२] सत्पुरुष तो हमारे देश में भी हैं, पर इस देश की नारियों जैसी नारियाँ बहुत कम हैं। यह सच है कि सुकृती पुरुषों के घर में भगवती स्वयं श्री-रूप में निवास करती हैं – **या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु लक्ष्मी।** मैंने यहाँ हजारों महिलाएँ देखीं, जिनके हृदय हिमवत् पवित्र और निर्मल हैं। अहा ! वे कैसी स्वतंत्र होती हैं ! सामाजिक और नागरिक कार्यों का ये ही नियंत्रण करती हैं। स्कूल और विद्यालय महिलाओं से भरे हैं और हमारे देश में महिलाओं के लिए राह चलना तक निरापद नहीं है !^२६३ और इनकी नारियाँ कैसी पवित्र हैं ! २५ या ३० वर्ष आयु के पहले बहुत कम विवाह होता हैं। गगनचारी पक्षी की भाँति ये स्वतंत्र हैं। हाट-बाजार, रोजगार, दुकान, कॉलेज, प्रोफेसर – सर्वत्र सब धन्धा करती हैं, फिर भी कितनी पवित्र हैं ! जिनके पास पैसे हैं, वे गरीबों की भलाई में तत्पर रहती हैं।[२६४] मनु महाराज ने भी कहा है **– यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवताः –** जिन परिवारों में स्त्रियों से अच्छा व्यवहार किया जाता है और वे सुखी हैं, उन पर देवताओं का आशीर्वाद रहता है।[२६५] और हम क्या कर रहे हैं? ११ वर्ष की आयु में विवाह नहीं होने पर मेरी पुत्री बिगड़ जायेगी![२६६] हम महापापी हैं; स्त्रियों को 'घृणित कीट', 'नरक की द्वार' आदि कहकर अध:पतित हुए हैं। ... प्रभु ने कहा है – **त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी** – 'तुम्हीं स्त्री हो और तुम्हीं पुरुष; तुम्हीं कुमार हो और तुम्हीं कुमारी।' (श्वेताश्वतर-उपनिषद्) इत्यादि; और हम कह रहे हैं – **दूरम् अपसर रे चाण्डाल** – 'ऐ चाण्डाल दूर हट।'[२६७] हमारे मनु जी हमें क्या आज्ञा दे गये हैं? **– कन्या अपि एवं पालनीया शिक्षणीया अति यत्नतः –** पुत्रियों का भी इसी तरह खूब यत्न के साथ पालन और शिक्षण होना चाहिये। जैसे ३० वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन के साथ पुत्रों की शिक्षा होनी चाहिए, वैसे ही पुत्रियों की भी शिक्षा होनी चाहिए। लेकिन तुम क्या कर रहे हो? क्या तुम अपने देश की महिलाओं की अवस्था सुधार सकते हो? तभी

तुम्हारे कुशल की आशा की जा सकती है, नहीं तो तुम ऐसे ही पिछड़े पड़े रहोगे।[२६८] ये रूप में लक्ष्मी और गुणों में सरस्वती हैं – ये साक्षात् जगदम्बा हैं, इनकी पूजा करने से सर्वसिद्धि मिल सकती है। ... इस तरह की माँ जगदम्बा यदि अपने देश में एक हजार तैयार करके मर सकूँ, तो निश्चित होकर मर सकूँगा। तभी तुम्हारे देश के आदमी आदमी कहलाने लायक हो सकेंगे।[२६९]

क्या तुम 'शाक्त' शब्द का अर्थ जानते हो? शाक्त होने का अर्थ शराब, भंग आदि का सेवन नहीं है। जो ईश्वर को समग्र जगत् में महाशक्ति के रूप में जानता है और जो स्त्रियों में इस शक्ति का प्रकाश मानता है, वही शाक्त है। अमेरिकी लोग स्त्रियों को इसी रूप में देखते हैं और मनु महाराज ने भी कहा है कि जिन परिवारों में स्त्रियाँ सुखी रहती हैं, उन पर देवताओं का आशीर्वाद रहता है। यहाँ के लोग ऐसा ही करते हैं और इसीलिए ये सुखी, विद्वान्, स्वतंत्र और उद्योगी हैं। और हम लोग स्त्री-जाति को नीच, अधम, महा हेय और अपवित्र कहते हैं। इसके फलस्वरूप हम लोग पशु, दास, उद्यमहीन और दरिद्र हो गये।[२७०]

वैदिक और वर्तमान युग

समझ में नहीं आता कि हमारे देश में पुरुष और स्त्रियों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त में तो कहा है कि एक ही चेतन सत्ता सर्वभूतों में विद्यमान है। तुम लोग स्त्रियों की निन्दा करते हो, पर उनकी उन्नति के लिए तुमने क्या किया? स्मृति आदि लिखकर, नियमों में आबद्ध करके इस देश के पुरुषों ने स्त्रियों को केवल बच्चे पैदा करने की मशीन बना डाला है। महामाया की साक्षात् मूर्ति – इन स्त्रियों का उत्थान हुए बिना क्या तुम लोगों की उन्नति सम्भव है? ... भारत का अध:पतन तभी से शुरू हो गया, जब ब्राह्मण पण्डितों ने अन्य जातियों को वेद-पाठ का अनधिकारी घोषित किया और साथ ही स्त्रियों के भी सभी अधिकार छीन लिए। नहीं तो देखो, वेदों तथा उपनिषदों के युग में मैत्रेयी, गार्गी आदि प्रात:स्मरणीय स्त्रियाँ ब्रह्म-विचार में ऋषितुल्य हो गयी हैं। हजार वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने गर्व के साथ याज्ञवल्क्य को ब्रह्मज्ञान पर शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी थी। इन आदर्श विदुषी स्त्रियों को जब उन दिनों अध्यात्म में अधिकार था, तो फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों न रहेगा? एक बार जो हो चुका है, वह फिर अवश्य हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है।[२७१] राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से किस प्रकार प्रश्न पूछे गये थे? उनसे प्रश्न करनेवालों में वाग्मी कन्या वाचक्नवी प्रमुख थी। उन दिनों ऐसी महिलाओं को 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था। वह कहती है, "मेरे प्रश्न एक कुशल धनुर्धर के हाथ में दो चमकदार तीरों के समान हैं।" उसे नारी होने की चर्चा तक नहीं की गयी है। और फिर, क्या वनों में स्थित हमारे पुरातन विश्वविद्यालयों में लड़कों और लड़कियों की समानता से अधिक पूर्ण कुछ और हो सकता है! अपने संस्कृत नाटक पढ़ो, शकुन्तला की कहानी पढ़ो और देखो कि क्या टेनिसन की 'प्रिंसेज' कविता हमें कुछ सिखा सकती है?"[२७२]

राष्ट्रीय जीवन का मापदण्ड-निर्धारण

अमेरिका में मैंने कितने ही सुन्दर पारिवारिक जीवन देखे हैं, कितनी ही ऐसी माताओं को देखा है, जिनके निर्मल चरित्र तथा नि:स्वार्थ सन्तान-स्नेह का वर्णन भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता। कितनी पुत्रियाँ तथा पवित्र कन्याएँ देखी हैं, जो देवी डायना के ललाट की तुषार-कणिकाओं के समान पवित्र हैं – फिर उनकी वैसी संस्कृति, शिक्षा और वैसी सर्वोच्च कोटि की आध्यात्मिकता! तो क्या अमेरिका की सभी नारियाँ देवी-स्वरूपा हैं? यह बात नहीं, भले-बुरे सभी स्थानों में होते हैं। परन्तु दुष्टों के नाम से अभिहीत दुर्बल व्यक्तियों के आधार पर किसी जाति के बारे में कोई धारणा नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि वे तो व्यर्थ के कूड़े-करकट की तरह पीछे रह जाते हैं; जो लोग भले, उदार तथा पवित्र होते हैं, उन्हीं के द्वारा राष्ट्रीय जीवन का निर्मल तथा प्रबल प्रवाह सूचित होता है। किसी सेव के पेड़ तथा उसके फलों के गुण-दोषों का विचार करने के लिए क्या तुम उसके कच्चे, अविकसित तथा कीटग्रस्त फलों का सहारा लोगे, जो धरती पर इधर-उधर बिखरे रहते हैं और जो कभी-कभी संख्या में भी अधिक ही होते हैं? यदि कोई एक भी सुपक्व तथा पुष्ट फल मिले, तो उसी के द्वारा उस सेव के वृक्ष की शक्ति, सम्भावना तथा उद्देश्य का अनुमान किया जाता है, न कि उन असंख्य अपक्व फलों के द्वारा।[२७३]

प्रत्येक जाति का एक नैतिक जीवनोद्देश्य है। उसी से उस जाति की रीति-निति का विचार करना होगा। अपने नेत्रों से उनका अवलोकन करना और उनके नेत्रों से अपना अवलोकन करना, दोनों ही भूल है। सामने ये दृश्य आते हैं – सुन्दर, बढ़िया तथा ठीक ढंग से सजाया हुआ भोजन, गाड़ियाँ-सवारियाँ, नये-नये अदब-कायदे तथा नये-नये फैशन, जिनके अनुसार सज-धजकर आजकल की विदुषी नारी हमारे सामने काफी निर्लज्जतापूर्ण स्वाधीनता के साथ घूमती-फिरती हैं। ये सब सामग्रियाँ न जाने कितनी नयी-नयी इच्छाएँ तथा वासनाएँ पैदा करती हैं। पर फिर यह दृश्य बदलकर उसकी जगह एक अन्य गम्भीर दृश्य आ जाता है और वह है सीता, सावित्री, व्रत-उपवास, तपोवन, जटाजूट, वल्कल तथा गैरिक वस्त्र, कौपीन, समाधि तथा आत्मोपलब्धि की सतत चेष्टा।[२७४] मैंने संसार को दोनों ओर से देखा है और जानता हूँ कि जिस जाति ने सीता को उत्पन्न किया है – चाहे वह उसकी कल्पना ही क्यों न हो – नारी के प्रति उसका आदर दुनिया में अपूर्व है।[२७५]

आदर्श – सीता का चरित

भारतीय स्त्रियों को जैसा होना चाहिए, सीता वैसी ही आदर्श हैं। स्त्री-चरित्र के जितने भारतीय आदर्श हैं वे सब सीता के ही चरित्र से उत्पन्न हुए हैं और वे सहस्त्रों वर्षों से सम्पूर्ण आर्यावर्त के स्त्री-पुरुष-बालकों की पूजा पा रही हैं। महा-महिमामयी सीता, स्वयं पवित्रता से भी पवित्र, धैर्य तथा सहनशीलता की सर्वोच्च आदर्श – सीता, सदा इसी भाव से पूजी जायेंगी। जिन्होंने अविचलित भाव से ऐसा महा-दुखमय जीवन व्यतीत किया, वे ही नित्य साध्वी, सदा शुद्ध-स्वभाव सीता, आदर्श पत्नी सीता, मनुष्य-लोक की आदर्श, देवलोक की भी आदर्श नारी, पुण्य-चरित्र सीता – सदा हमारी राष्ट्रीय देवी बनी रहेंगी। हम सभी उनके चरित्र को भलीभाँति जानते हैं, अत: उनका विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। चाहे हमारे सारे पुराण नष्ट हो जायँ, यहाँ तक कि हमारे वेद भी लुप्त हो जायँ, हमारी संस्कृत भाषा सदा के लिए काल-स्रोत में विलुप्त हो जाय, किन्तु मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो – जब तक भारत में अतिशय ग्राम्य भाषा बोलनेवाले पाँच भी हिन्दू रहेंगे, तब तक सीता की कथा विद्यमान रहेगी। सीता का प्रवेश हमारी जाति की अस्थि-मज्जा में हो चुका है; प्रत्येक हिन्दू नर-नारी के रक्त में सीता विराजमान हैं; हम सभी सीता की सन्तान हैं। हमारी नारियों को आधुनिक भावों में रँगने की जो चेष्टाएँ हो रही हैं, यदि उन सब प्रयत्नों में उनको सीता-चरित्र के आदर्श से भ्रष्ट करने की चेष्टा होगी, तो वे असफल होंगे, जैसा कि हम रोज देखते हैं। भारतीय नारियों से सीता के चरण-चिह्नों का अनुसरण कराकर अपनी उन्नति की चेष्टा करनी होगी, यही एकमात्र पथ है।[२७६]

और सीता के विषय में क्या कहा जाय! तुम संसार के पूरे प्राचीन साहित्य को छान डालो, मैं तुमसे नि:संकोच भाव से कहता हूँ – तुम संसार के भावी साहित्य का भी मन्थन कर सकते हो, परन्तु उसमें से भी तुम सीता के समान दूसरा चरित्र नहीं निकाल सकोगे। सीता-चरित्र अद्वितीय है। यह चरित्र सदा के लिए एक ही बार चित्रित हुआ है, और कभी न हुआ है और न होगा।[२७७]

वास्तविक शक्तिपूजा

क्या कारण है कि संसार के सब देशों में हमारा देश ही सबसे अधम, शक्तिहीन और पिछड़ा हुआ है? इसका कारण यही है कि यहाँ शक्ति का अपमान होता है। ... शक्ति की कृपा हुए बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। अमेरिका और यूरोप में क्या देख रहा हूँ? – शक्ति की पूजा, शक्ति की उपासना। परन्तु वे उसकी अज्ञानपूर्वक उपासना करते हैं इन्द्रिय-भोग द्वारा करते हैं। फिर जो पवित्रतापूर्वक सात्त्विक भाव से शक्ति को पूजेंगे, उनका कितना कल्याण होगा![२७८] हम प्राय: ही पश्चिम में स्त्रियों की पूजा की बात सुनते हैं, परन्तु यह पूजा सामान्यत: उनके तारुण्य तथा लावण्य के कारण ही होता है। परन्तु मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के स्त्री-पूजन का भाव यह था कि प्रत्येक स्त्री का मुखारविंद उन आनन्दमयी माँ का ही मुखारविंद है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि मेरे गुरुदेव उन स्त्रियों के चरणों पर गिर पड़ते थे, जिनको समाज स्पर्श तक नहीं करता और उन स्त्रियों से भी रोते-रोते यही पुकारते थे – "हे जगन्माता, एक रूप में तुम सड़कों पर घूमती हो और दूसरे रूप में तुम जगद्व्यापिनी हो। हे जगदम्बे, हे माता, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।" सोचकर देखो, उनका जीवन कैसा धन्य है, जिनका कामभाव पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है, जो प्रत्येक नारी का भक्ति-भाव से दर्शन कर रहे हैं तथा जिनके लिये प्रत्येक नारी के मुख ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया है, जिसमें साक्षात् उन्हीं आनन्दमयी भगवती जगद्धात्री का मुख ही प्रतिबिम्बित हो रहा है! हमारी दृष्टि भी ऐसी ही होनी चाहिए।[२७९] स्त्रियों की पूजा करके ही सभी जातियाँ बड़ी हुई हैं। जिस देश या जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वह देश या जाति न कभी बड़ी बन सकी है और न कभी बन सकेगी। तुम्हारे देश का जो इतना अध:पतन हुआ है, इन शक्ति-मूर्तियों का अपमान ही उसका प्रधान कारण है।[२८०]

** ** ** ** ** ** ** ** ** **

सन्दर्भ-सूची –

२५७. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९) खण्ड ६, पृ. ३६-७; **२५८.** वही, खण्ड १०, पृ. ३८०; **२५९.** वही, खण्ड १, पृ. ४०४; **२६०.** वही, खंण्ड १, पृ. ३२१; **२६१.** वही, खण्ड ३, पृ. ३२५-२६; **२६२.** वही, खण्ड २, पृ. ३१०; **२६३.** वही, खण्ड २, पृ. ३१४-१५; **२६४.** वही, खण्ड २, पृ. ३१५-१६; **२६५.** वही, खण्ड २, पृ. ३१५; **२६६.** वही, खण्ड २, पृ. ३१६; **२६७.** वही, खण्ड २, पृ. ३३७; **२६८.** वही, खण्ड २, पृ. ३१६; **२६९.** वही, खण्ड ३, पृ. ३०८; **२७०.** वही, खण्ड २, पृ. ३१५; **२७१.** वही, खण्ड ६, पृ. १८१-८२; **२७२.** वही, खण्ड ४, पृ. २६७; **२७३.** वही, खण्ड २, पृ. ३१८-१९; **२७४.** वही, खण्ड १०, पृ. ९६; **२७५.** वही, खण्ड ४, पृ. २६७-६८; **२७६.** वही, खण्ड ५, पृ. १५०; **२७७.** वही, खण्ड ५, पृ. १५०; **२७८.** वही, खण्ड २, पृ. ३६०-६१; **२७९.** वही, खण्ड ७, पृ. २५६-५७; **२८०.** वही, खण्ड ६, पृ. १८२

❖ (क्रमशः) ❖

मनुष्यों की तीन श्रेणियाँ

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

एक प्रश्न मुझसे बारम्बार पूछा जाता है कि क्या नरक-स्वर्ग की धारणा पूरी तरह काल्पनिक नहीं है? और यदि है तो क्या नरक और पाप का डर दिखाकर मनुष्य को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देना उचित है? उत्तर में वक्तव्य यह है कि विचारों की भिन्नता के कारण, बुद्धि की धारणा-शक्ति की अधिकता या न्यूनता के कारण मनुष्यों की अलग-अलग श्रेणियाँ होती हैं। कुछ लोग मानसिक विकास की दृष्टि से बालक के समान होते हैं, तो कुछ लोग प्रौढ़। प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए उसके अनुरूप व्यवस्था करनी होती है।

मोटे तौर पर हम मनुष्यों को तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं। एक तो वे हैं, जो इस संसार को छोड़कर और कुछ नहीं जानते। यह दृश्यमान जगत् ही उनके लिए सब कुछ है। ये लोग भौतिकवादी और इन्द्रियपरायण होते हैं। खाना, पीना और मौज उड़ाना ही उनका लक्ष्य होता है। Enjoyment, Excitement and Exhaustion यानी भोग, उत्तेजना और अवसाद के चक्र में पड़कर ये लोग उचित और अनुचित का विवेक खो बैठते हैं और उच्छृंखल तथा पशुवत् हो जाते हैं। ऐसे लोगों में पाप-पुण्य का कोई बोध नहीं होता। अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए ये कुछ भी कर सकते हैं। ऐसे विवेकहीन मानव-पशुओं से समाज की रक्षा करने के लिए डण्डे का उपयोग लाभप्रद सिद्ध होता है।

इससे, कुछ ऊपर की श्रेणी वह है, जहाँ मनुष्य केवल देह के स्तर पर नहीं जीता, बल्कि एक वैचारिक आदर्श में आस्था रखता है। उसे यह विश्व आकस्मिकता या दुर्घटना से उत्पन्न एक लक्ष्यहीन भटकाव नहीं मालूम पड़ता, बल्कि वह इस संसार में एक अदृश्य नियामक शक्ति को अनुस्यूत देखता है, जिसे वह ईश्वर के नाम से पुकारता है। यह व्यक्ति विश्वास करता है कि अशुभ क्रियाओं का फल अशुभ होता है और शुभ क्रियाओं का फल शुभ। इसलिए वह स्वर्ग और नरक पर विश्वास करता है और मानता है कि पुण्य के फल से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा पाप के फल से नरक की। स्वर्ग वह है, जहाँ सुख की सूक्ष्म कल्पना होती हो और नरक वह है, जहाँ दुःख की बीभत्स-से-बीभत्स कल्पना मूर्त रूप धारण करती हो। मनुष्यों की यह दूसरी श्रेणी पाप और नरक के डर से कुमार्ग पर कदम डालने में हिचकती है। इन लोगों के लिए ईश्वर एक न्यायी राजा के समान है, जो सत्कर्मों के लिए पुरस्कार और दुष्कर्मों के लिए दण्ड प्रदान करता है। मानव-समाज के बृहत्तर अंश के लिए पाप-पुण्य की यह कल्पना लाभदायक सिद्ध होती है।

इससे भी ऊपर की श्रेणी वह है, जहाँ मनुष्य पाप-पुण्य की भावना से प्रेरित होकर क्रियाएँ नहीं करता, जो ईश्वर को एक न्यायी राजा के समान नहीं देखता, बल्कि उसे सर्वान्तिर्यामी सत्य के रूप में स्वीकार करता है और ऐसा मानता है कि यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड अटल और अपरिवर्तनशील नियमों द्वारा धारित है। ये नियम ही 'ऋत' और 'सत्य' के नाम से पुकारे गये हैं। इस तीसरी श्रेणी में अत्यन्त विरले लोग होते हैं। इनके जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति न होकर सत्य का शोधन होता है। ऐसे ही व्यक्ति सत्यद्रष्टा बनकर 'ऋषि' के नाम से पूजित होते हैं। सारी मानव-जाति को 'ऋषि' की उच्चतम स्थिति तक पहुँचा देना ही विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य है। पर इस गन्तव्य पर पहुँचने के लिए हमें प्रथम दो श्रेणियों में से गुजरना होता है। एक छोटा बच्चा जब चलना शुरू करता है, तो तीन पैर की गाड़ी का सहारा लेता है। जब वह चलना सीख जाता है, तो उसे फिर किसी सहारे की जरूरत नहीं होती। पर इसका मतलब यह नहीं कि तीन पैर की गाड़ी निरर्थक हो गयी। उसकी भी उपयोगिता है। दिशाएँ कल्पित हैं। अक्षांश और रेखांश कोई ऐसी रेखाएँ नहीं जो दुनिया में कहीं खिंची हों, वे पूरी तरह से काल्पनिक हैं। पर इन काल्पनिक दिशाओं से हमें ठोस लाभ मिलता है। हम उनके सहारे हवा में उड़कर या पानी में तैर कर अपने गन्तव्य को पहुँच जाते हैं। हम ऊँट पर रेगिस्तान को पार कर सही स्थान को पा लेते हैं। यह कल्पना की व्यावहारिक उपयोगिता है। ठीक इसी प्रकार भले ही स्वर्ग और नरक की धारणा काल्पनिक हो, पर उससे व्यावहारिक जीवन में ठोस लाभ मिलता है। एक श्रेणी के मनुष्यों को मर्यादा में बाँधकर रखने के लिए जैसे पुलिस के डण्डे की जरूरत है, वैसे ही दूसरी श्रेणी के लोगों को नैतिक मर्यादा में बनाये रखने के लिए पाप या नरक के डर का प्रयोजन है। यह पाप का डर पुलिस के भय की अपेक्षा अधिक कारगर सिद्ध होता है। इस पाप के भय का शिथिल हो जाना ही हमारी समस्याओं के उलझाव का प्रमुख कारण है। ❑❑❑

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (४/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)
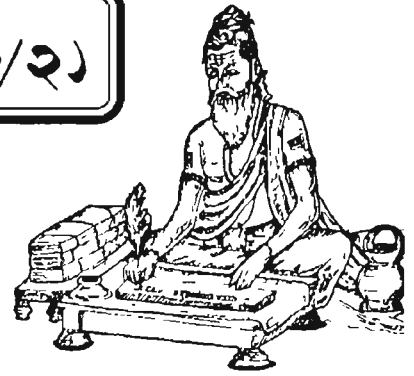
खर-दूषण और त्रिसिरा भी सुन्दरता ग्राहक हैं, रागी हैं। पर राग दो प्रकार के होते हैं – एक वासनामूलक और दूसरा स्नेह या भक्तिमूलक। वासनामूलक राग भी राग जैसा ही लगता है। खर-दूषण और त्रिसिरा माँग करते हैं कि तुम जनक-नन्दिनी सीता को हमें दे दो। पर प्रभु उन्हें सामने नहीं आने देते। प्रश्न उठता है – भक्तिरूपिणी सीताजी को माँगना अपराध है क्या? भक्त लोग भक्ति ही तो माँगते हैं! पर भक्त द्वारा भक्ति को माँगना एक बात है, पर जो भक्ति को भक्ति के रूप में जानता ही नहीं, केवल एक बहिरंग सौन्दर्य की कल्पना करके उन्हें माँग रहा है, उसकी दूषित वृत्ति है। अत: भगवान को क्रोध आ जाता है। वे कह देते हैं – जाओ और अपने स्वामी से कह दो कि युद्ध के लिये आकर छल-कपट तथा शत्रु पर दया का दिखावा करना बड़ी कायरता है –

रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई।
रिपु पर कृपा परम कदराई।। ३/१९/१३

पहले तो वैराग्य का पक्ष आया और लक्ष्मणजी सुरक्षा के लिए सीताजी को लेकर चले गये। और अब खर-दूषण तथा त्रिसिरा से युद्ध हो रहा है। इन्हें मारना किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भव है। क्योंकि इन भाइयों की संख्या तीन नहीं, चौदह हजार थी और उनके मिलकर तपस्या करने पर जब ब्रह्मा ने प्रकट होकर पूछा – "क्या चाहते हो?" तो वे बोले – "हम कभी न मरें।" ब्रह्मा ने कहा – "यह तो असम्भव है। मृत्यु-लोक की जो सीमा है, तुम्हें उसी के अन्तर्गत माँगना होगा।" तब उन लोगों ने योजनापूर्वक ब्रह्मा से कहा – "तो फिर हम यही माँगते हैं कि यदि हमारी मृत्यु हो, तो आपस में लड़कर हो, कोई दूसरा हमें न मार सके।"

दैत्य या राक्षस लोग देवताओं को शक्तिशाली तो मानते थे, पर बुद्धिमान नहीं। समझते थे कि ये लोग वरदान न भी देना चाहें, तो हम युक्ति से ले लेंगे और जो देंगे, उससे अधिक ले लेंगे। और उन्होंने सोच लिया कि हम लोग न आपस में लड़ेंगे और न कभी मरेंगे। बड़ी विचित्र बात है। ये दूसरे के द्वारा मर नहीं सकते और आपस में लड़ते नहीं।

यहाँ गोस्वामीजी बड़ा अद्भुत ज्ञान का तत्त्व प्रगट करते हैं। एक ओर भगवान अकेले हैं और दूसरी ओर चौदह हजार राक्षस। लक्ष्मणजी श्रीसीताजी की सुरक्षा में सनद्ध हैं। उन्होंने जनकनन्दिनी सीता को बताया कि हमारे प्रभु सबका संहार करने में समर्थ हैं। प्रभु के लिए चौदह हजार राक्षसों की संख्या कोई बहुत बड़ी नहीं है। परन्तु बेचारे देवता आकाश में खड़े होकर गणना कर रहे हैं – सोचते हैं कि प्रेत चौदह हजार और श्रीराम अकेले हैं! यह कैसा युद्ध है?–

सुर डरत चौदह सहस प्रेत
बिलोकि एक अवध घनी। ३/२०/४ (छं.)

युद्ध हो रहा है, राक्षस मर नहीं रहे हैं। तब एक ऐसा सूत्र दिया गया है, जो वेदान्त और योग की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। प्रभु ने एक अनोखा कौतुक किया – सबको राम बना दिया। वेदान्त की दृष्टि में तत्त्वत: सारा संसार ही ब्रह्म है, सब राम हैं। उन सबको राम बना दिया।

सब राम हैं, तो क्या ये राम से राम लड़ रहे हैं? ये जो सारे झगड़े हो रहे हैं, ये सभी राम से राम की लड़ाई है क्या? – हाँ है। – कब है? – जब राम के प्रति प्रीतिमूलक नहीं, द्वेषमूलक दृष्टि हो। देवताओं तथा मुनियों को भयभीत देखकर मायानाथ प्रभु ने एक बड़ा कौतुक किया –

सुर मुनि सभय प्रभु देखि
मायानाथ अति कौतुक करयो।। ३/२०/४ (छं.)

मायानाथ हैं न! साधारण जादूगर भी जब जादू दिखाने लगता है, तो बड़े-बड़े बुद्धिमान ठगे-से रह जाते हैं, समझ नहीं पाते कि क्या रहस्य है। और ये महा-मायानाथ अद्भुत कार्य करते हैं। मानो प्रभु बताना चाहते हैं कि समस्या यह नहीं, कुछ और है। सब जब राम बन गये, तो झगड़ा समाप्त हो जाना चाहिए। पर इन सबमें राम के प्रति द्वेषमूलक वृत्ति है। मूल बात है प्रीतिमूलक दृष्टि और द्वेषमूलक दृष्टि। राम वही हैं, अब आप चाहे उन्हें प्रीति की दृष्टि से देखें या द्वेष की दृष्टि से। परिणाम क्या हुआ? जब सब राम बन गये, तो सब आपस में लड़कर मर गये। वरदान तो था ही कि आपस में लड़कर मरेंगे। संकेत यह है कि एक राक्षस देखता है कि यह राम है, मारो। दूसरा राक्षस देखता है – यह राम है, इसे मारो। दोनों सामनेवाले को ही देखते हैं, पर यदि स्वयं को भी देख लें, तो झगड़ा ही खत्म हो जाय। दोनों ही राम हैं।

राम सर्वव्यापी हैं, तथापि जब हमारे अन्त:करण में द्वेष वृत्ति होती है, तब हम अद्वैत में ही द्वैत की सृष्टि करके अपने संहार का हेतु बनते हैं। मजे की बात तो यह है कि प्रभु ने जादू करके चौदह हजार राक्षसों को मार डाला। यदि आपको जादू का खेल पसन्द है, तो यही मानकर आनन्द लीजिये – सब आपस में ही युद्ध करके मर गये –

देखहिं परसपर राम करि संग्राम
रिपु दल लरि मार्‌यो ।। ३/२०/४ (छं.)

प्रभु को मारना नहीं पड़ा, प्रभु किसी को नहीं मारते। वे किसे मारेंगे? प्रभु मानो कहते हैं कि जो लड़ रहे हैं, वे अपने अज्ञान और द्वेष के कारण मर रहे हैं। मेरी ओर से कोई भेद नहीं है। इस प्रकार वहाँ सारे राक्षस मारे गये। लक्ष्मणजी जनक-नन्दिनी सीताजी को लेकर आते हैं। देवता फूल बरसा रहें हैं। और तब सीताजी भगवान के श्यामल कोमल शरीर को देखती हैं और नेत्र अघा नहीं रहे हैं –

सीता चितव स्याम मृदु गाता ।
परम प्रेम लोचन न अघाता ।। ३/२१/३

तो इस पक्ष में वैराग्य है, ज्ञान है और योग की सिद्धि का चमत्कार भी है। और दूसरे पक्ष में सीताजी का हरण हो जाता है। रावण को उत्तेजित किया गया, प्रेरित किया गया।

खर-दूषण क्यों नहीं देख पाये। बोले – जितने दूषण होते हैं वे दूसरे को ही देखते हैं, अपने को कहाँ देखते हैं? दूषणत्व का यह स्वभाव है। पर यही नहीं, अब दूसरा पक्ष है। सीताजी का हरण हो गया। रावण को लगा कि विश्व के सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य को मैंने अधिकार में कर लिया। पर वहाँ भी सूत्र वही है। एक-एक शब्द आपस में गुथे हुए हैं। भगवान राम एकान्त में सीताजी के समक्ष एक योजना बना चुके हैं। रावण के संहार के लिए तुम्हें एक महान् कष्टमयी भूमिका स्वीकार करनी है। और प्रभु ने यह भी बता दिया कि उन्हें क्या भूमिका करनी है, क्या बोलना है, कैसे करना है। उस समय लक्ष्मणजी वहाँ नहीं थे।

बहुत-सी सूक्ष्म बातें हैं, सब लोग शायद उसका आनन्द न ले सकें। पर वेदान्त की दो प्रकार की विचार-धाराएँ हैं। एक तो यह कि ज्ञान के साथ वैराग्य आवश्यक है और दूसरा पक्ष मानता है कि वैराग्य की क्या आवश्यकता? सत्य तो सत्य है, उसमें राग-विराग क्या? यदि कोई वैराग्यवान नहीं है, तो क्या उसे ज्ञान नहीं हो सकता? इस प्रकार वेदान्त के दो पक्ष हैं। सूर्य का प्रकाश यदि दिखाई दे, तो उसके लिए क्या यह आवश्यक है कि वह पुण्यात्मा को दिखाई दे और पापी को न दिखाई दे। सूर्य तो सूर्य है। ज्ञान यदि सूर्य है, तो वह सबका है, फिर व्यक्ति चाहे जैसा भी हो।

पर गोस्वामीजी बताना चाहते हैं कि वैराग्य के अभाव में क्या होता है। और लक्ष्मणजी की अनुपस्थिति में वह योजना बनी। – क्यों? – इसलिए कि प्रभु यदि लक्ष्मणजी के सामने वह योजना रखते, तो वे कहते कि इतनी झंझट की क्या आवश्यकता? मैं सीधे रावण को ही मार आता हूँ। पर प्रभु तो साधना का पक्ष बताना चाहते हैं। गणित का हल ही नहीं, उसकी विधि भी आवश्यक है। परीक्षा में गणित के जो प्रश्न दिए जाते हैं। मान लीजिए कोई व्यक्ति पुस्तक से याद कर ले कि अन्त में उसका हल यह अंक है और वह लिख दे। पर बुद्धिमान तो यह कहेगा कि अंक नहीं, इस अंक तक तुम पहुँचे कैसे? उसकी विधि क्या है? हल तो कोई भी याद कर लेगा, विधि भी महत्त्वपूर्ण है। तो रामायण का उद्देश्य यदि केवल रावण का वध मात्र होता, तब तो लक्ष्मणजी या हनुमानजी ही मार दें अथवा प्रभु ही मार दें और मोह नष्ट हो जाय। पर वे तो बताना चाहते थे कि उसकी पद्धति क्या है। ऋण, धन, जोड़ और बाकी – सब लिखने के बाद विद्यार्थी का सवाल हल होता है। हल के साथ ही उसे उसकी विधि भी बतानी पड़ती है। तो मानो गणित का हल तो प्रसिद्ध ही है। – क्या? बोले – करोड़ों शास्त्रों में जो कहा गया है, वह एक वाक्य में कह देता हूँ कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म को छोड़ कुछ भी नहीं है –

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ-कोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।।

क्या कठिनाई है? सब लोग यह श्लोक याद कर लें और दुहराते रहें – **ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या**। पर यह केवल वाक्य का नहीं, अनुभूति का विषय है। प्रभु जानते हैं कि लक्ष्मण समर्थ हैं, तो भी वे उन्हें वह कार्य नहीं सौपेंगे।

योजना बड़ी दूरगामी है। तदनुसार रावण मृग को लेकर आता है। और तब पूर्व-नियोजित पाठ के अनुसार सीताजी अपने दो रूप बना लेती हैं। एक में छाया रूप में प्रभु के साथ हैं, दूसरे में अग्नि में समा जाती हैं। जो कभी अलग नहीं हो सकतीं, उनका दो रूप में उनका दिखाई देना – यह बड़ा दार्शनिक प्रसंग है। सीताजी को यदि बता दें कि वे अलग हो गईं तो समस्या और यदि कहें कि अलग नहीं हुईं तो भी समस्या। अलग नहीं हुईं, तो आगे की घटनाओं का कोई अर्थ ही नहीं। अत: तत्त्वत: वे भले ही अभिन्न हैं, पर भिन्नता की भ्रान्ति होती है और भिन्नता की इस अनुभूति को मिटाने के लिए साधना की आवश्यकता है। इसलिए सीताजी ने देखा – बड़ा मन हरण करनेवाला सुनहरा हिरण आया है और तब वैदेही ने कहा – चमड़ा बड़ा सुन्दर है, ले आइए –

सीता परम रुचिर मृग देखा ।
अंग-अंग सुमनोहर बेषा ।।
सुनहु देव रघुबीर कृपाला ।
एहि मृगकर अति सुन्दर छाला ।।
आनहु चर्म कहति बैदेही ।। ३/२७/३-५

बहुत बड़ी बात कह दी गई। चमड़े में यदि सुन्दरता है, तो वैदेही तो देह से ऊपर हैं, उन्हें नहीं दिखाई देना चाहिए था। गोस्वामीजी बोले – पाठ बड़ा कठिन है। वैदेही को यह कहने के लिए बाध्य किया गया है कि चमड़ा बड़ा सुन्दर है। तो चमड़ा सुन्दर दिखाई देना – यह देह की दृष्टि है, विदेह की ऐसी दृष्टि नहीं होनी चाहिये।

योजना तो बनी हुई थी। तैयारी हो रही है। वहीं से बैठे-बैठे मार देते। वह मर जाता। परन्तु उद्देश्य तो अति दूरगामी है, अतः प्रभु खड़े हो गये और कमर कस लिया। चलते समय कहा – लक्ष्मण ! मैं जा रहा हूँ, पर ध्यान रखना, बड़ा कठिन समय है। बुद्धि से, विवेक से और बल से तुम सीताजी की रक्षा करना –

तब रघुपति जानत सब कारन।
उठे हरषि सुर काजु सँवारन।। ३/२७/६
सीता केरि करेहु रखवारी।
बुधि बिबेक बल समय बिचारी।। ३/२७/९

कैसी विचित्र योजना है। हरण की योजना है और रक्षा की भी योजना है। गोस्वामीजी मानो दोनों पक्ष लेकर चल रहे हैं – एक तात्त्विक पक्ष और दूसरा नाटक में दिखाई देनेवाला पक्ष। और प्रभु मृग के पीछे चले जाते हैं। अब गोस्वामीजी ने एक बड़ा विलक्षण सूत्र लिखा – प्रभु ने जब धनुष पर बाण रखा, तो एक ऐसा शब्द लिखा गया, जो साधारण साहित्य की दृष्टि से वहाँ पर नहीं लिखा जाना चाहिए था। कौन-सा? बोले – उन्होंने बड़ा रुचिर बाण धनुष पर रखा –

मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा।
कर तल चाप रुचिर सर साँधा। ३/२७/७

बाण के लिए 'रुचिर' शब्द ठीक है क्या? रुचिर अर्थात् जो बड़ा स्वादिष्ट हो, रुचिकर हो। अन्यत्र भगवान के बाण के लिए कहा गया – उनके बाण क्या चल रहे हैं, मानो काल-सर्प भयानक रूप से आक्रमण कर रहा हो –

तब चले बान कराल।
फुंकरत जनु बहु ब्याल।। ३/२०/१ (छं.)

तो बाण को काल-सर्प कहना साहित्यिक दृष्टि से अनुकूल है। परन्तु श्रीराम ने बड़ा स्वादिष्ट बाण चढ़ाया – यह कैसा प्रयोग है ! इतना बड़ा कवि और ऐसा कहे ! पर गोस्वामीजी जानते थे कि सबकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है। और उसका रहस्य तब खुला, जब रावण ने मारीच को बाध्य किया। जब मारीच चलने लगा तो मन-ही-मन क्या सोच रहा है –

उभय भाँति देखा निज मरना।
तब ताकिसि रघुनायक सरना।। ३/२६/५

और उसके बाद जब चलता है, तो बड़ा प्रसन्न है, बल्कि इतना प्रसन्न है कि उसे भय हो रहा है कि रावण कहीं मेरी प्रसन्नता को देख न ले। देख लेगा, तो इसे सन्देह होगा कि कहीं मेरे पास से जाकर उधर न मिल जाय। मरने जाने के लिए कोई खुश होकर थोड़े ही जायेगा। तो अपने हर्ष को ही नहीं, अति हर्ष को छिपा लिया। – हर्ष क्यों? – आज मैं देखूँगा। – किसे देखोगे? – परम सनेही को। – वे आपसे क्या करेंगे? – वे मेरे ऊपर अपने बाण का प्रहार करेंगे। मारीच को वह बाण इतना रुचिर लगा रहा है कि वह उसको खाने को बैचेन हो रहा है। अब आपको पसन्द हो या न हो, पर मारीच प्रसन्न हो रहा है। गोस्वामीजी कहते हैं –

मन अति हरष जनाव न तेही।
आजु देखिहउँ परम सनेही।। ३/२६/८
निज परम प्रीतम देखि लोचन
सुफल करि सुख पाइहौं।
श्री सहित अनुज समेत कृपा-
निकेत पद मन लाइहौं।।
निर्बान दायक क्रोध जा कर
भगति अबसहिं बसकरी।
निज पानि सर संधानि सो
मोहि बधिहि सुखसागर हरी।। ३/२६/छं.

किसी ने पूछा – बाण तुम्हें इनता रुचिकर क्यों लग रहा है? बोला – पहले भी एक बार मैं इनका बाण चख चुका हूँ, इसलिए स्वाद मालूम है। गोस्वामीजी का कितना दूरगामी संकेत है ! यदि वह प्रभु के बाण को पहले न चख चुका होता, तो कैसे कहता कि बड़ा स्वादिष्ट है, पर उसने कहा – उस समय स्वाद अधूरा रह गया था, पूरा नहीं चख पाया था; आज पूरा स्वाद मिलेगा। – क्यों? बोले – उस समय बिना फल का बाण मार दिया, तो यह दशा हो गई कि सर्वत्र वे ही दिखाई देने लगे और जब फलसहित बाण मारेंगे, तब तो आज उनसे पूर्णतः मिल कर एकाकार हो जाऊँगा –

बिन फर सर रघुपति मोहि मारा।
सत जोजन आयउँ छन माहीं।।
भइ मम कीट भृंग की नाई।
जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई।। ३/२५/५-७

उसकी कितनी विलक्षण वृत्ति है? और उधर वह लीला चल रही है और इधर दूसरा नाटक हो रहा है। नाटक में उसे लक्ष्मण का नाम लेना है। लक्ष्मणजी का नाम उसने लिया, और तब सीताजी कहती हैं – लक्ष्मण, जाओ, जाओ, तुम्हारे भाई पर बहुत बड़ा संकट आ पड़ा है –

जाहु बेगि संकट अति भ्राता।। ३/२८/३

यह वे ही जनकनन्दिनी हैं, जिन्हें श्रीराम को चौदह हजार राक्षसों से लड़ने के लिए प्रस्तुत देखकर भी मन में आशंका नहीं हुई थी कि हमारे प्रियतम इनसे अकेले कैसे लड़ेंगे? परन्तु आज कहने लगीं – उन पर कोई बहुत बड़ा संकट आया हुआ है। और लक्ष्मण इसे सुनकर खूब हँसे।

उन्हें लगा कि यह हो क्या रहा है? आज मैं वह देख रहा हूँ, जो मैंने जीवन में कभी नहीं देखा। आज तक मैंने जनक-नन्दिनी को प्रभु के सिवा अन्य किसी के लिए 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करते नहीं सुना। पर आज उन्होंने थोड़ी देर पहले कहा – मृग का चमड़ा बड़ा सुन्दर है। और आज तक मैंने प्रभु को कभी किसी के पीछे भागते नहीं देखा, पर आज एक दूसरा ही दृश्य दीख पड़ा – प्रभु मायामृग के पीछे भाग रहे हैं और सबसे आश्चर्य की बात तो यह है – आदिशक्ति कह रही हैं कि ईश्वर संकट में पड़ा हुआ है। – "माँ, क्या आपको याद दिलाना होगा? जिनकी भृकुटि चढ़ने से संसार नष्ट हो जाता है, आप कहती हैं कि उन प्रभु पर संकट आया है –

भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई ।
सपनेहुँ संकट परइ कि सोई ।। ३/२८/४

पूछा – हँसते क्यों हो? बोले – अब तक तो मैं यही सुनता था कि जीव संकट में पड़कर ईश्वर को पुकारता है, पर आज सुन रहा हूँ कि भगवान संकट में हैं और जीव को सहायता के लिए पुकार रहे हैं। इसके बाद सीताजी के मुख से जो कटूक्तियाँ निकलती हैं, उनके कारण लक्ष्मणजी को जाना पड़ा। और विवश होकर जाते हुए भी वे एक रेखा खींचकर कहते हैं – "माँ, आपने जब ऐसा कह दिया, तो अब तो मुझे जाना ही होगा, परन्तु मैं यह रेखा खींच देता हूँ और आपसे प्रार्थना है कि इस रेखा को मत लाँघियेगा।"

वैराग्य की कैसी महानता है? रावण आता है और यदि जनकनन्दिनी उस रेखा के भीतर बनी रहतीं, तो उसके जैसा शक्तिशाली योद्धा भी उनका हरण नहीं कर पाता। पर उन्होंने इस रेखा को लाँघ दिया। **पूर्ण वैराग्य की बात तो छोड़िये, यदि हृदय में सच्चे वैराग्य की रेखा भी हो, तो मोह उसका कुछ नहीं कर सकता।** वैराग्य की रेखा कोई साधारण रेखा नहीं है। परन्तु यदि वैराग्य का अभाव होगा, यदि इसकी रेखा को लाँघ दिया जायेगा, तो वैदेही को देहनगर में जाना पड़ेगा, बन्दिनी होना पड़ेगा, कष्ट उठाना पड़ेगा। तो रावण जनक-नन्दिनी सीताजी को ले जाता है। और लंका ले जाकर – वह दुष्ट उन्हें भय और प्रीति दिखा-दिखा कर हार गया –

हारि परा खल बहु बिधि
भय अरू प्रीति देखाइ । ३/२९

कुछ लोग यह कहते नहीं थकते कि रावण बड़ा भक्त था! पर गोस्वामीजी इतने उदार नहीं हैं। रावण के लिए वे 'दुष्ट' शब्द का प्रयोग करते हैं – वह दुष्ट भय और प्रीति दिखाकर सीताजी को वश में करना चाहता है। जब किसी तरह से सफलता न मिली, तब कहाँ रख दिया? इसे उसका दुर्भाग्य कहिए या उसकी अपवित्र बुद्धि कहिए, उसने सीताजी को ले जाकर अशोक वृक्ष के नीचे बैठा दिया –

तब असोक पादप तर
राखिसि जतन कराइ ।। ३/२९

यह अशोक वृक्ष रामायण में श्रीराम के चरित्र से जुड़ा हुआ वृक्ष नहीं है। बट, पीपल, आम और जामुन भगवान के चरित्र से जुड़े हुए हैं। इन वृक्षों का वर्णन आप चित्रकूट में और भुशुण्डि के आश्रम में भी पाएँगे। क्या लंका में ये वृक्ष नहीं थे? इतना बड़ा बाग था, तो जरूर होंगे। पर गोस्वामीजी वृक्ष के द्वारा भी कुछ कहना चाहते हैं। रावण उन्हें पाने की विधि नहीं जानता, इसीलिये साधु के वेष में गया। **सच्चे साधु को भक्ति सुलभ है, पर साधुवेष को सुलभ नहीं है।** भक्ति को पाया जाता है – विनम्रता तथा शरणागति से और वह उन्हें भय तथा प्रलोभन दिखाकर पाना चाहता है। उनके निवास के लिए चाहिए विश्वास-रूपी वट वृक्ष –

बटु बिस्वास अचल निज धरमा । १/२/११
बिनु बिस्वास भगति नहिं ... । ७/९०

रावण के जीवन में श्रद्धा-विश्वास नहीं है। वह दम्भ से परिपूर्ण है। साहित्यिक दृष्टि से अशोक वृक्ष के चयन का बड़ा बुरा अर्थ सामने आता है। कवियों की कुछ मान्यताएँ हैं और उन्हें भौतिक धरातल पर खोजने की चेष्टा नहीं होनी चाहिए। उसके द्वारा वे कुछ कहना चाहते हैं। साहित्य में जो अशोक है, उसके फूलने का एक नियम था और वह यह कि जब वसन्त ऋतु का आगमन हो, तब भी वह सींचने या पूजा से नहीं फूलता था। जब कोई सुन्दरी षोडशी स्त्री आकर उस पर अपने पैरों से प्रहार कर देती थी, तब वह फूल जाता था। अब आप इस वृक्ष को दुनिया में ढूँढ़ने न चले जायँ। अपने आश्रम में भी एक तरह का अशोक दिखाई दे रहा है, पर साहित्य का अशोक इससे भिन्न है, क्योंकि उसमें भिन्न प्रकार के पुष्पों का वर्णन है। अत: यह साहित्य में है और वहीं मिलेगा। और इसमें एक बड़ा ही सुन्दर संकेत है।

अशोक वृक्ष कामिनी युवती के पद-प्रहार से फूलता है और कामी रावण भी पद-प्रहार का ही अधिकारी है। उसके फूलने का उपाय यही है कि एक बार वासनापूर्ण दृष्टि मिले, फिर तो उसे पद-प्रहार भी सह्य है। इसलिए सीताजी को बैठाने के लिए उसके पास दूसरा कोई उपयुक्त निवास स्थान नहीं है। भक्ति, भावना, विधि – कुछ भी नहीं है। वह उन्हें अशोक के नीचे ही बैठाता है। और अन्त में उसके जीवन में इसका जो परिणाम होना चाहिए, वही होता है।

सुन्दरता देह में नहीं है, देह की वस्तु नहीं है। सुन्दरता का केन्द्र कहाँ है? अब प्रारम्भ में ही पहुँच जायँ – जनकजी के मन में प्रश्न उठा था – भगवान के निवास के लिए जगह चाहिए? जनक जैसे महापुरुष को लगा कि मेरा भवन उनके योग्य नहीं है। वे बोले – जिस भवन में सीताजी रहती हैं। वही उनके योग्य है और उसका नाम है – 'सुन्दर सदन'।

वस्तुतः सौन्दर्य की घनीभूत शक्ति तो सीताजी हैं और भगवान राम तो सीताजी को सुन्दर कहना भी अनुचित मानते हैं। बोले – वे वह हैं, जो सुन्दरता को भी सुन्दर बनाती है –

सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई ।। १/२२९/७

नाशवान होने के कारण महापुरुषों ने सुन्दरता को ठुकरा दिया। वह सोचने लगी – अब मैं क्या करूँ? वह सीताजी के चरणों में गिर पड़ी। उन्होंने कृपा करके उसे मानो स्वयं में स्वीकार कर लिया। तब महात्मा भी कहने लगे – ठीक है, सुन्दरता भी दो प्रकार की होती है। एक तो है जनकनन्दिनी सीताजी की सुन्दरता और दूसरी है नश्वर शरीर की सुन्दरता। इसीलिए पहले तो वे बिना निमंत्रण आकर अमराई में ठहर गये। यह अमराई क्या है? – सन्त-समाज। प्रभु को वही स्थान पसन्द है, जहाँ सन्त हों। वहीं उन्हीं के बीच बैठे –

संत सभा चहुँ दिसि अवँराई । १/३६/१२

और दूसरा स्थान कौन-सा है? महाराज जनक ने अपनी पुत्री सीता से कहा – "पुत्री, आज मेरे नगर में महान् अतिथि आए हुए हैं, बहुत बड़े महात्मा हैं, दिव्य राजकुमार हैं, यदि तुम मेरे भवन में आ जाओ, तो तुम्हारा निवास उन्हें दे दिया जाय।" वे प्रसन्न हो गईं। वह तो लीला का दिव्य रस ही था। गोस्वामीजी कहते हैं कि जनक के नगर में जो ज्ञानमय भवन हैं, वे सब प्रकार से सुखद नहीं हैं। ज्ञान का भवन थोड़ा सूखा होता है न ! ज्ञान के भवन में शृंगार होता नहीं। लेकिन गोस्वामीजी ने कहा – सीताजी के रहने के सुन्दर महल की शोभा का वर्णन भला कैसे किया जाय –

सिय निवास सुन्दर सदन
सोभा किमि कहि जाति ।। १/२१३

भक्ति त्रिकाल में सुखद है। बड़ी मीठी बात कही गई। लगता है कि आजकल भक्तों की संख्या काफी बढ़ गई है। भक्ति की तुलना नदी से की गयी है और कवि कहता है – भादो में यदि दृष्टि डालें तो लगता है कि चारों ओर नदियाँ ही नदियाँ हैं, चारों ओर जल ही जल है। लेकिन क्या सचमुच ही सड़क पर बहनेवाली और पहाड़ों पर बहनेवाली नदी भी कोई नदी है? तो उसकी परीक्षा क्या है? जेठ का महीना आ जाने पर जो ठहरे, वही नदी कहलाने के योग्य है –

भक्ति भाव भादव नदी सभी चली घहराय ।
सरित वही सराहिए जो जेठ मास ठहराय ।।

श्रद्धा की तुलना बसन्त ऋतु से हुई है। संसार का बसन्त दोमासी है, पर जनकपुर की वाटिका के वर्णन में कहा गया – जहाँ बारहो महीने वसन्त रहता है –

जहँ बसंत रितु रही लोभाई । १/२२७/३

अर्थात् वहाँ की श्रद्धा शाश्वती है। श्रद्धा, भक्ति और भावना सर्वदा विद्यमान है। कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो भक्ति के भवन में नहीं है? भक्त का कोमल हृदय भगवान के लिए शय्या है। विनय-पत्रिका में भगवान की पूजा और आरती का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है – "प्रभु को यदि बुलाना है, तो पलंग बिछा लो, भोजन-पान की व्यवस्था कर लो।" उन्होंने बड़ा ही मधुर वर्णन किया है। इसका अभिप्राय यह है कि भक्ति में यदि शीतलता की आवश्यकता हो, तो उसमें शीतलता की पराकाष्ठा है और यदि उष्णता की आवश्यकता हो, तो विरह का ग्रीष्म है। तो भक्तिरूपी सीताजी का यह विलक्षण भवन सभी ऋतुओं में सुखद था –

सुंदर सदनु सुखद सब काला ।
तहाँ बासु लै दीन्ह भुआला ।। १/२१६/७

और इसलिए सुन्दरता की खोज में भेजा गया बन्दर को। हनुमानजी, बन्दर हैं और सुन्दर की खोज में जाते हैं। यदि किसी को कुरूप कहना हो, तो उसे बन्दर ही तो कहते हैं। पर यह बन्दर ऐसा अनोखा था कि दूर से लंका को देखा तो लगा – वह बड़ी सुन्दर है। गोस्वामीजी के शब्द बड़े चुने हुए होते हैं। हनुमानजी छलाँग लगाकर उस पार पहुँच गये और दूर से देखा – लंका में विचित्र मणियों से जड़ा हुआ सोने का परकोटा है और उसमें बहुत-से सुन्दर मकान हैं –

कनक कोट बिचित्र मनिकृत
सुंदरायतना घना ।। ५/३/छं.

दूर से सुन्दर दिखा। पर जब नगर में घुसे और घर-घर में पैठकर देखा – कहीं, किसी भी मकान में वैदेही नहीं हैं –

मंदिर महुँ न दीखि बैदेही ।। ५/५/७

तो हनुमानजी ने लंका में आग क्यों लगा दी? बोले – देह तो दूर से ही सुन्दर लगती है। शारीरिक सुन्दरता की अन्तिम परिणति तो जलना ही है। चाहे किसी का भी, कितना भी सुन्दर शरीर हो, उसे जलना ही होगा। और फिर उन्होंने वास्तविक सुन्दर-रूपी जनकनन्दिनी सीता को पाया, भक्ति पाई और धन्यता का बोध किया। और जो केवल दूर से दिखनेवाली सुन्दरता थी, उसे जलाकर नष्ट कर दिया।

महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि प्रभु यह जो आपकी कथाएँ हैं उसमें क्या नहीं है? जो निरन्तर भगवत्कथा सुनता रहेगा, उसे क्या नहीं मिलेगा? उसको कैसे-कैसे प्रसंग मिलेंगे – कहीं ज्ञान की दिव्यता, कहीं वैराग्य की महिमा, कहीं भक्ति की रसमयता और फिर उसमें कैसे कर्म, कैसे ज्ञान, कैसे चरित्र मिलेंगे। इसके लिए कोई विशेष प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। बस कान को संकुचित न कर ले, उसे छोटा न बना लें। उसे समुद्र के समान विशाल बना लें और निरन्तर भगवान की कथा कहें और सुनें। ❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(३१) जाकी रही भावना जैसी

एक बार गौतम बुद्ध से एक भक्त ने प्रश्न किया, "कई दिनों से मेरे मन में प्रश्न उठ रहा है कि चन्द्रमा सुन्दर होते हुए भी उसमें कलंक क्यों है? उसी प्रकार सबको आलोकित करनेवाले दीपक के नीचे अँधेरा क्यों रहता है?"

बुद्धदेव ने मुस्कराते हुए कहा – "तुम्हारे मन में ये प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि चन्द्रमा और दीपक गुणवान होते हुए भी उनमें ऐसा विरोधाभास क्यों है? परन्तु एक बात तुम्हारे ध्यान में नहीं आई।"

उनकी पूरी बात सुनने से पहले ही शिष्य ने पूछा – "कौन-सी बात नहीं आई?"

तथागत बोले – "क्या तुमने कभी यह सोचा है कि लोग चन्द्रमा के गुणों का बखान करते हैं, सर्वदा उसकी शीतलता और सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं, परन्तु तुम्हारे मन में उसकी प्रशंसा की जगह उसके दोषों का ही ख्याल क्यों आता है? इसी तरह जहाँ दुनिया भर के लोग दीपक के प्रकाश से लाभान्वित होने के कारण उसकी प्रशंसा करते हैं, वहीं तुम्हें उसके नीचे का अँधेरा ही क्यों दिखाई देता है?"

"इसका कारण मैं बताता हूँ" – इस प्रकार बुद्धदेव ने अपना कथन जारी रखा – "ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि जो जैसा होता है, उसे वैसा ही दिखाई देता है। हमारे मन में जैसी भावनाएँ पनपती हैं, हम उन्हीं के वशीभूत हो जाते हैं। इसीलिए कोई व्यक्ति कैसा है, इसे जानने के लिए हमें अपने मन को दर्पण बनाना चाहिये। उसे दर्पण की भाँति स्वच्छ करने पर ही हमें वास्तविकता ज्ञात होगी। हमारे विचारों की छाया चित्त को शुद्ध नहीं होने देती। ज्योंही मन के विचार शान्त हो जाते हैं और चित्त शून्य हो जाता है, त्योंही हमारी दुर्भावना सद्भावना में बदल जाती है और हमें वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है।"

(३२) गुरु-आज्ञा अमृत की खान

एक बार गुरु नानकदेव अपने शिष्यों के साथ एक जंगल में से होकर गुजर रहे थे और दूर-दूर तक कोई गाँव नहीं दिखाई दे रहा था। आखिरकार वे लोग विश्राम के लिए एक पेड़ के नीचे बैठ गये। सहसा नानकदेव खड़े हो गये और इशारा करते हुए बोले – "वह देखो, सामने एक पेड़ के नीचे कुछ सफेद-सा पड़ा हुआ दिखाई दे रहा है।"

शिष्यगण जब वहाँ गये, तो उन्हें एक सफेद चादर के नीचे कोई लम्बी चीज ढँकी हुई दिखाई दी। एक शिष्य ने कहा – "निश्चय ही यह कोई शव है। इधर भूख के मारे हमारी जान जा रही है, इसलिए गुरुजी कहीं हमें इसी को खाकर अपनी भूख मिटाने का आदेश न दे दें।"

इस पर दूसरा शिष्य बोला – "गुरुजी ने हमें इसे खाने को नहीं कहा है, केवल दिखाया भर है।"

तब तीसरा शिष्य बोला – "गुरुदेव ने हमें इसे खोलकर देखने के लिये तो नहीं कहा है।"

चौथा बोला – "इसे खोलकर देखने में हर्ज क्या है?"

पाँचवें ने उससे कहा – "तुम्हीं क्यों नहीं देख लेते।"

परन्तु चादर को उठाकर उसके नीचे देखने की हिम्मत किसी को भी नहीं हुई। तब, बाद में गुरु अंगददेव के नाम से प्रसिद्ध होनेवाले लहानू नामक शिष्य बोला – "गुरुजी ने जब हमें यह चीज दिखाई है, तो इसका मतलब यही है कि उन्होंने हमें इसे देखने का आदेश दिया है।"

यह कहते हुए उसने चादर हटाई, तो सारे शिष्य यह देखकर चकित रह गये कि वहाँ बहुत-से ताजे फल पड़े हुए थे। तब सबके ध्यान में यह बात आई कि गुरु उनकी परीक्षा ले रहे थे कि हममें कितना धैर्य है और हम उनकी आन्तरिक इच्छा को भाँप या जान सकते हैं या नहीं! वे सब उन फलों को लेकर नानकदेव के पास आये। वे लहानू की पीठ थपथपाते हुए बोले – "तेरी निष्ठा सचमुच प्रशंसनीय है।"

इसके बाद उन्होंने शिष्यों से कहा – "हमें कभी भी किसी बात को नकारात्मक दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए। मनुष्य को हमेशा आशावादी रहना चाहिए। एक बार तुमने जिसे गुरु माना है, वह कभी गलत आदेश नहीं दे सकता। शिष्य के पास विश्वास का धन और श्रद्धा का रत्न होता है, जो गुरु को प्यारा होता है। जो व्यक्ति गुरु पर जितना अधिक विश्वास करता है, जितनी अधिक आस्था रखता है, वह उतना ही अधिक फल पाता है। जो उन्हें पथ-प्रदर्शक तथा उनकी आज्ञा को ब्रह्मवाक्य मानकर उनका अनुकरण-अनुसरण करता है, वही जीवन में सफल होता है।" ❑❑❑

विजय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है (५)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(श्री संत गजानन संस्थान अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द जी पिछले कई वर्षों से वहाँ के विद्यार्थियों के मध्य व्याख्यान देने जाते रहे हैं। कभी-कभी उन्होंने वहाँ के विद्यार्थीयों केलिये अंग्रजी भाषा में व्यक्तित्व विकास सम्बन्धी कार्यशालाएँ भी आयोजित की थीं, जिनमें दिये गये कुछ व्याख्यानों को उक्त महाद्यिालय ने छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। उन्हीं में से एक पुस्तिका "Born to Win" का 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ हिन्दी में अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, के ब्रह्मचारी जगदीश ने किया है। - सं.)

अपने व्यक्तित्व के दुर्बल पक्ष को जानें

शक्ति का रहस्य है, अपनें चरित्र एवं व्यक्तित्व के दुर्बल पक्ष का ज्ञान। जीवन में विजयप्राप्ति हेतु हमें अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व को मजबूती प्रदान करनी होगी। किन्तु इससे पहले कि हम अपने व्यक्तित्व को सुदृढ़ करने की दिशा में अग्रसर हों, यह आवश्यक है कि हम अपनी दुर्बलताओं के विषय में ठीक-ठीक जानें। क्या हम दैहिक आकर्षणों से अभिभूत होते हैं? क्या सम्पत्ति का आकर्षण हमें विचलित करता है? क्या नाम-यश की आकांक्षा हमें अभिभूत करती है? क्या हम शक्ति एवं अधिकार के आकर्षणों के समक्ष दुर्बल हो जाते हैं? क्या हम स्वार्थपरता के लुभावने आकर्षणों में खो जाते हैं? क्या हम अपने उद्देश्य की सिद्धि में एवं अन्यत्र व्यवहार में भी छल-कपट का आश्रय लेने में अभ्यस्त हैं? ये ही वे अंतस्थ शत्रु हैं जो व्यक्तित्व के महत्तम विकास के संघर्ष में हमें पराजित कर कुचल देना चाहते हैं।

जीवन में परमोपलब्धि हेतु हमें कमर कस के, अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार कर उन्हें दूर करने के भगीरथ प्रयास में जुटना होगा। क्योंकि, यह कार्य हमारे लिए, हमारे अतिरिक्त, अन्य कोई नहीं कर सकता। अपनी दुर्बलताओं का ज्ञान ही हमारा वास्तविक बल है। वे ही ऐसे स्थान हैं, जहाँ प्रलोभनों का आक्रमण होने पर हमें पग-पग पर सम्भल कर बढ़ना होगा। जब हम अपने दुर्बल पक्ष से परिचित होंगे, तब दुर्बलता के क्षणों में शत्रु के प्रति सावधान रहकर, उसके आक्रमण से स्वयं की रक्षा करने के लिए, अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का आह्वान करने में समर्थ हो सकेंगे।

इस प्रकार हमने देखा कि अपने व्यक्तित्व के दुर्बल पक्ष का ज्ञान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि उसके सबल पक्ष का ज्ञान।

एक समय में एक कार्य

माना कि हम अपने व्यक्तित्व की समस्त दुर्बलताओं से परिचित हैं, तब एक प्रश्न ही नहीं अपितु एक महत्त्वपूर्ण समस्या से हमारा सामना होता है। केवल व्यक्तित्व के दुर्बल पक्षों का ज्ञान हमें शक्ति प्रदान नहीं कर सकता। हमें व्यक्तित्व के अंधेरे पक्षों को प्रकाशित करने एवं सुधारने के साधनों का भी ज्ञान होना चाहिए।

अपनी दुर्बलताओं की जानकारी होने पर उनसे एक साथ नहीं भिड़ना चाहिए। यह असम्भव सिद्ध होगा। हम दुर्बलता रूपी उन पशुओं का एक-एक कर सामना एवं उन्मूलन करें। यदि हम एक-एक कर अपने अंतस्थ शत्रुओं पर प्रहार करते हैं तो निश्चय ही उन्हें पराजित कर सकेंगे। इस तरह अग्रसर होने पर हम देखेंगे कि कुछ ही वर्षों में हममें परिवर्तन आ गया है तथा विकसित व्यक्तित्व के आदर्श को प्राप्त करने में, जीवन-संघर्ष में जूझने की वास्तविक शक्ति हममें आ गई है।

सतत सावधानी या जागरूकता

सतत जागरूकता ही जीवन में परमोपलब्धि का मूल्य है। हमने जान लिया कि हमें अपने व्यक्तित्व के दुर्बल पक्षों का बोध होना चाहिए, किन्तु स्मरण रहे यद्यपि उनका बोध विजय हेतु आवश्यक तो है, तथापि पर्याप्त नहीं।

क्या हम अपने व्यक्तित्व के दुर्बल पक्षों के प्रति सतत जागरूक हैं?

क्या हमारे विजय अभियान में हमारी दुर्बलताओं द्वारा की जाने वाली हानि के प्रति हम सचेत हैं?

क्या हमें इस बात का बोध है कि हमारी दुर्बलताएँ, हमारे हाथ-पैरों में लगी बेड़ियाँ हैं और हमें महत् जीवन की ओर बढ़ने से रोक रही हैं?

क्या हमें इस बात का बोध है कि जब तक हम अपने व्यक्तित्व के दुर्बल पक्ष की बेड़ियों को काट नहीं देते, तब तक परमोपलब्धि की ओर हमारा अग्रसर होना, असम्भव है?

यह बोध हममें तब तक नहीं आ सकता जब तक हम विवेक को सम्यक् आदर नहीं देते हैं, जब तक अपनी दुर्बलताओं और उन्हें दूर करने के साधनों का सतत ध्यान नहीं रखते हैं।

केवल दुर्बलताओं पर नजर रखकर ही उन्हें दूर नहीं किया जा सकता। जो दूसरी आवश्यक बात है, जिसे साथ-ही-साथ किया जाना चाहिए, वह है - हम अपने व्यक्तित्व के उज्ज्वल

पक्ष का भी ध्यान रखें अर्थात् अपने गुणों एवं अच्छाईयों के प्रति भी सचेत हों।

अपने गुणों एवं अच्छाईयों का पोषण करते रहने पर बुराईयाँ अपने आप ही दूर हो जायेंगी तथा हम व्यक्तित्व के अंधेरे पक्ष की दासता से मुक्त हो जायेंगे।

सावधानी स्वयं में एक सद्गुण है। प्रत्येक व्यक्ति को, जो जीवन में परम उपलब्धि का आकाक्षी है, इस बात की आदत डालनी होगी कि वह पहले तो स्वयं के प्रति और फिर अपने आस-पास की परिस्थियों के प्रति जागरूक रहे तथा स्वयं के विकास एवं दासता से मुक्ति के लिए विचारशील एवं प्रयत्नशील हो।

स्वभावनिष्ठ बनो

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, स्वभावनिष्ठ बनो और अपने स्वय के स्वभाव का अनुसरण करो। किन्तु हम देखते हैं कि संसार में लाखों-करोड़ों लोग कभी भी स्वभावनिष्ठ होने का विचार तक नहीं करते। दिन-रात वे दूसरे लोगों के मतानुसार अपने व्यक्तित्व का आकलन करते हैं और तदनुरूप उसे अभिव्यक्त करने में लगे रहते हैं। वे सदा अपने स्वभाव को छिपा कर लोगों की इच्छा से परिचालित हो, वैसा ही दिखने का प्रयास करते रहते हैं। इसलिए वे कभी वह नहीं हो पाते जो वे वस्तुतः हैं। इस तरह वे सदैव अपने वास्तविक स्वभाव को छिपाते हुए अनुसरण एवं नकल का जीवन जी रहे होते हैं। हम जानते हैं कि एक हजार रूपये का नकली नोट, एक रूपये के असली नोट के सामने तुच्छ है।

इस तरह अपने वास्तविक स्वभाव को छिपाकर, लोगों के कहे अनुसार चलने की आदत हमारे व्यक्तित्व को पगु एवं विकृत करती है। क्योंकि हम सदैव एक मुखौटा पहने होते हैं, तथा हमें ज्ञात होता है कि यह मुखौटा ही है, हमारा वास्तविक स्वभाव नहीं। यह हमारे भीतर सतत द्वन्द्व को उत्पन्न करता है। हम सदैव असमंजस एवं अनिर्णय की स्थिति में पड़े रहते हैं और एक व्यक्ति जो असमंजस एवं अनिर्णय की स्थिति में हो, वह जीवन के किसी मोर्चे पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

इसलिए हमें अत्यन्त सावधानीपूर्वक अपने वास्तविक व्यक्तित्व पर जाने-अनजाने चढ़े इन मुखौटों को उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। हम समाज में स्वयं को जैसे हैं, वैसे ही प्रस्तुत करें और समाज हमारे निजत्व में हमें स्वीकार करे। यह हमें महान् संतोष एवं आत्मविश्वास देगा। यह हमारे व्यक्तित्व-विकास एवं सामाजिक उपयोगिता के विकास में सहायक होगा तथा हम समाज में प्रशसा एव सम्मान के योग्य हो सकेंगे। इस तरह हम अपने जीवन-सघर्ष में विजयी हो सकेंगे।

अपने वास्तविक स्वभाव को प्राप्त करना

प्रारम्भ में ही हम देख चुके हैं कि व्यक्तित्व के उत्थान अथवा पतन में कल्पनाशक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः जीवन-संघर्ष में विजय-प्राप्ति हेतु हमें अपने समस्त ज्ञात संसाधनों का प्रयोग करना होगा।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है - "समस्त शक्ति तुम्हारे भीतर है।" हमें इस महावाक्य पर विश्वास कर इसकी सहायता लेनी चाहिए। आइए, हम अपने अतरतम के द्वार पर बारम्बार दस्तक दें तथा दृढ़तापूर्वक यह विश्वास करें कि वह हमारे लिये खोला जाएगा, क्योंकि हमारे व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। प्रत्येक मनुष्य अंततः विजयी होने के लिए ही जन्मा है। यह हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। हम इस बात पर बारम्बार बल दें कि हम अवश्य विजयी होंगे। कभी-कभी कुछ समय के लिए, पराजय से हमारा सामना हो सकता है, किन्तु हम कभी पराजय स्वीकार न करें। स्वामी विवेकानन्द ने एक अन्य स्थान पर कहा है, "कभी पराजय स्वीकार न करो" और यही हमारे सच्चे स्वरूप के द्वार को खोलने का रहस्य है। हम बारम्बार इस बात पर बल दें कि हम अजेय हैं। ससार की कोई शक्ति हमें पराजित नहीं कर सकती ! हम अपनी समस्त दुर्बलताओं को उखाड़ फेंकने एवं कुचल डालने में अवश्य सफल होंगे। दुर्बलता हमारा स्वभाव नहीं है। बल, शक्ति, सामर्थ्य एवं विजय ही हमारा मूल स्वभाव है तथा हमें इसकी अनुभूति आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों करनी ही होगी!

इस प्रकार का दृढ़ विश्वास एवं दृढ़ निश्चय हमारी समस्त शक्तियों के द्वार खोल देगा तथा जीवन-सघर्ष में हम सफल हो सकेंगे। आइए! हम इस बात का विश्वास करें कि हम महान् हैं! हमने अपने भीतर विद्यमान इस महानता को अभिव्यक्त करने के लिए जन्म लिया है! हम विजेता हैं। हम इस बात पर विश्वास करें कि विजय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यह दृढ़ निश्चय एवं गहन आस्था ही, जीवन-सघर्ष में विजय-प्राप्ति हेतु आवश्यक अन्य सभी सहायक तत्त्वों को हमारे लिए सुलभ कर देगी।

❖ (क्रमशः) ❖

वेदान्त-बोधक कथाएँ (६)

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी विश्वाश्रयानन्द जी ने वेदान्त के गूढ़-गहन तत्त्वो को अभिव्यक्त करनेवाली कुछ कथाओं को बँगला में लिखकर 'गल्पे वेदान्त' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया था। बाद में स्वामी अमरानन्द जी ने उसका आंग्ल रूपान्तरण किया। दोनों ही पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई हैं। उन्हीं कथाओं का हिन्दी अनुवाद हम धारावाहिक रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

मुक्त पुरुषों का आचरण

यमुना के ऊपर चलना

महान् ऋषि व्यासदेव एक बार वृन्दावन में यमुना के तट पर बैठे हुए थे। कुछ गोप-बालाएँ भी वहीं नाव की प्रतीक्षा कर रही थीं। वे अपने साथ दूध-दही तथा मक्खन लिये हुए थीं, जिसे उन्हें यमुना के उस पार ले जाकर बेचना था।

उस समय वहाँ कोई नाव नहीं दीख रही थी, उसलिये वे लाचार थीं। सहायता के लिये वे व्यासदेव के पास गयीं।

व्यास बोले – "ठीक है, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। वैसे मुझे भी उस पार ही जाना है। परन्तु मैं थोड़ा भूखा हूँ। इसलिये पहले तुम मुझे कुछ दूध-दही तो खिला दो! तुम लोगों के घड़े तो भरे हुए दिख रहे हैं।"

गोपिकाओं ने व्यास-देव को भरपेट दूध-दही खिलाया और उसके बाद उन्हें उनके वचन की याद दिलायी।

व्यासदेव यमुना के तट पर गये और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे – "माता यमुने, यदि मैंने कुछ भी न खाया हो, तो तुम्हारा जल दो भागों में बँट जाय, ताकि हम लोग उस पार जा सकें।"

उनकी इस प्रार्थना पर गोपिकाएँ हँसने लगीं। व्यासदेव उनका बहुत-सा दूध-दही खाने के बाद भी कह रहे थे – "यदि मैंने कुछ भी न खाया हो ...।" परन्तु सहसा नदी की धारा दो भागों में बँट गयी और उसके बीच से होकर एक मार्ग दिखने लगा! व्यासदेव बड़े सहज भाव से गोपिकाओं को नदी के बीच से उस पार ले गये।

व्यास एक ज्ञानी सन्त थे। उन्हें बोध था कि वे मूलत: देह-मन से पृथक् – आत्मा हैं। वे जानते थे कि यद्यपि उनके शरीर-मन ने खाने-पीने की क्रिया में भाग लिया है, परन्तु वे स्वयं आत्मा के रूप में उन सबसे निर्लिप्त थे।

महर्षि वेदव्यास

नींद से जागना

सुरेन एक वृक्ष से लगकर अपने दोनों पैर फैलाये निढाल-सा पड़ा हुआ था। वह बड़े सबेरे से ही खेत में हल चला रहा था और अब थोड़ा विश्राम कर रहा था।

सहसा उसने देखा – कोई खेतों से होकर दौड़ता-हाँफता उसी की ओर चला आ रहा है। बड़ी मुश्किल से उसने सुरेन को सन्देश दिया – "तत्काल घर जाओ। तुम्हारा पुत्र हारू अचानक बीमार हो गया है, लगता है कि उसे हैजा हुआ है।"

सुरेन घर लौटा। उसने देखा कि हारू का शरीर पीला पड़ गया है। डॉक्टर को बुला भेजा गया। उसे खूब उल्टी और पतले दस्त हो रहे थे। डॉक्टर ने आकर दवाइयाँ दीं, परन्तु कुछ भी काम नहीं आया। हारू का देहान्त हो गया।

हारू की माँ शोक से उन्मत्त हो गयी। पड़ोसी लोग इस शोक-ग्रस्त परिवार को ढाँढ़स बँधाने आये। परन्तु सुरेन शान्त था। उसके चेहरे पर शोक का कोई भाव न था। वह अपने पुत्र को श्मशान ले गया और अन्तिम क्रिया सम्पन्न की। अपराह्न में वह फिर अपने खेत में जा पहुँचा।

सुरेन की पत्नी तथा पड़ोसियों को उसका यह आचरण बड़ा आश्चर्यजनक तथा पहेली-सा प्रतीत हुआ। शाम को घर लौटकर उसने देखा कि पत्नी तब भी रो रही है। किसी प्रकार अपने रुदन को संयमित करते हुए वह बोली – "तुम्हारा हृदय कितना कठोर है! हमारा इकलौता लड़का चल बसा और तुम्हारी आँखों में एक बूंद आँसू तक नहीं आया!"

सुरेन बोला – "मैं बताता हूँ कि मुझे रुलाई क्यों नहीं आ रही है। पिछली रात मुझे एक सपना आया, जिसमें मैं एक राजा बना हुआ था और मेरे आठ पुत्र थे। लेकिन मेरी नींद सहसा खुल गयी। अब मेरी समझ में नहीं आता
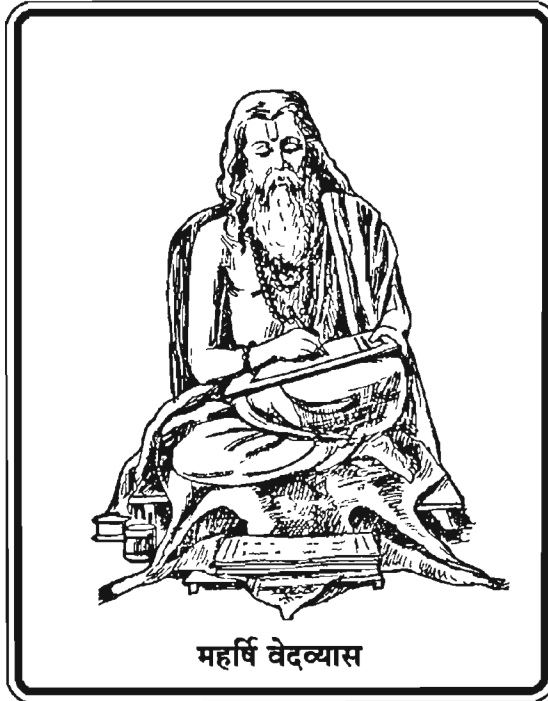
कि मैं तुम्हारे इस हारू के लिये रोऊँ या उन आठ राज-कुमारों के लिये !"

सुरेन आध्यात्मिक दृष्टि से काफी उन्नत था। वह जानता था कि तत्त्व की दृष्टि से जाग्रत अवस्था की हमारी अनुभूतियाँ भी स्वप्न के समान ही काल्पनिक हैं। इस अनुभूति के पीछे एकमात्र सत्य आत्मा या परमेश्वर ही है।

तुम्हें किसने मारा?

शिवपुर एक छोटा-सा गाँव था। उस गाँव के लोगों का जीवन बड़ा ही सहज, शान्तिपूर्ण और आनन्दमय था। गाँव के एक किनारें एक पुराना मठ स्थित था।

अनेक वर्षों पूर्व इस आश्रम के एक संन्यासी पास के गाँव में भिक्षा माँगने गये थे। वहाँ से शिवनगर लौटते समय रास्ते में पड़ोसी गाँव के जमींदार श्रीपति बाबू से उनकी भेंट हुई। श्रीपति बाबू ने एक चोर को पकड़ लिया था और उसकी बुरी तरह पिटाई कर रहे थे। संन्यासी को चोर पर दया आ गयी और उन्होंने श्रीपति बाबू को इतने कठोर दण्ड से रोकने का प्रयास किया।

बाबू का पारा उस समय आसमान में चढ़ा हुआ था, अतः दो-चार घूसे उन्होंने अपने कार्य में बाधा डालनेवाले संन्यासी को भी जड़ दिये। संन्यासी जमीन पर गिरकर बेहोश हो गये। थोड़ी ही देर में यह समाचार मठ तक जा पहुँचा। वहाँ से उनके कुछ गुरुभाई तथा गाँववाले आकर उन्हें अचेत अवस्था में ही उठाकर मठ में ले गये। कई घण्टे की सेवा-सुश्रूषा तथा प्रतीक्षा के बाद रोगी ने आँखें खोलीं।
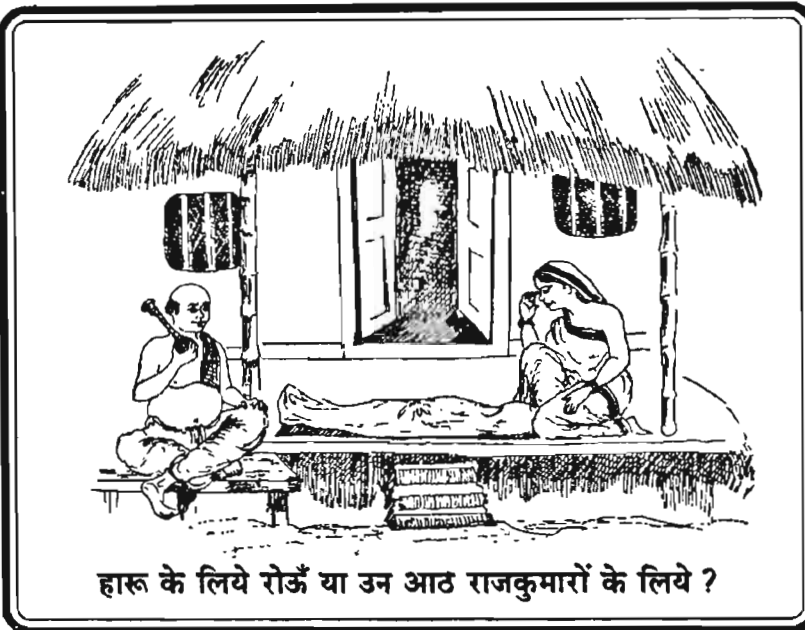
हारू के लिये रोऊँ या उन आठ राजकुमारों के लिये ?

शिवनगर के भले लोगों को अब भी यह ज्ञात न था कि इन्हें किसने पीटा है, पर वे उस दुष्ट का पता लगाकर उसकी अच्छी खबर लेना चाहते थे। ऐसे सज्जन महात्मा के प्रति ऐसा क्रूर आचरण देखकर वे बड़े ही क्रुद्ध थे।

बाबाजी की आँखें खुलते ही उनके बिस्तर के पास खड़ा व्यक्ति पूछ उठा – "महाराज, आप को किसने पीटा था?"

संन्यासी के चेहरे पर मुस्कुराहट खेल गयी। वे बोले – "जिसने मुझे पीटा था, वही अब मेरी सेवा कर रहा है।"

अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के कारण उन संन्यासी के मन में किसी के प्रति भी घृणा या दुर्भाव नहीं रह गया था और उन्हें प्रत्येक प्राणी में एक ही आत्मा के दर्शन होते थे। उनके लिये शत्रु-मित्र जैसा कुछ भेद न था।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण-उपदेशामृत

बड़े-बड़े गोदामों में चूहों को पकड़ने के लिए दरवाजे के पास चूहेदानी रखकर उसमें लाई-मुरमुरे रख दिए जाते हैं। उसकी सोंधी-सोंधी महक से आकृष्ट होकर चूहे गोदाम में रखे हुए कीमती चावल का स्वाद चखने की बात भूल जाते हैं और लाई खाने जाकर चूहादानी में फँसकर मारे जाते हैं। जीव का भी ठीक यही हाल है। कोटि-कोटि विषय-सुखों के घनीभूत समष्टि-स्वरूप ब्रह्मानन्द के द्वार पर अवस्थित होते हुए भी जीव उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न करके संसार के क्षुद्र विषय-सुखों में लुब्ध होकर माया के फन्दे में फँसकर मारा जाता है।

यात्री को किसी नये शहर में पहुँचकर पहले रात बिताने के लिए किसी सुरक्षित डेरे का बन्दोबस्त कर लेना चाहिए। डेरे में अपना सामान रखकर वह निश्चिन्त होकर शहर देखते हुए घूम सकता है। परन्तु यदि रहने का बन्दोबस्त न हो, तो रात के समय अँधेरे में विश्राम के लिए जगह खोजने में उसे बहुत तकलीफ उठानी पड़ती है। उसी प्रकार इस संसाररूपी विदेश में आकर मनुष्य को पहले ईश्वररूपी चिर-विश्रामधाम प्राप्त कर लेना चाहिए, फिर वह निर्भय होकर अपने नित्य कर्तव्यों को करते हुए संसार में भ्रमण कर सकता है। किन्तु यदि ऐसा न हो तो जब मृत्यु की घोर अन्धकारपूर्ण भयंकर रात्रि आएगी, तब उसे अत्यन्त क्लेश और दुःख भोगना पड़ेगा।

आत्माराम की आत्मकथा (२१)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य कृत इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

दिन के लगभग डेढ़ बजे गाड़ी बीजापुर पहुँची। गर्मी से बड़ा कष्ट हो रहा था। पैसेन्जर ट्रेन थी और २५-३० मिनट ठहरती थी, इसलिए स्नान करके कुछ जलपान करने के लिये स्टेशन पर उतरा। स्नान के बाद देखा कि गाड़ी का (एंग्लो-इंडियन) गार्ड मेरी ओर ही आ रहा है। सोचा – शायद मुझे डाँटेगा, लेकिन उसने इसके उल्टा ही आचरण किया। पूछा – कहाँ जा रहा हूँ, आदि। फिर गार्ड-वैन से स्नान करने को एक बाल्टी ला दिया और अति विनयपूर्वक कहा – "मेरे पास गर्म चावल और सब्जी है। यदि आपत्ति न हो तो मेरे साथ ही भोजन करियेगा।" मैंने कहा – "भाई ! मुझे कोई भी आपत्ति नहीं है। मैं संन्यासी हूँ, जात-पात नहीं जानता, यद्यपि दूसरे लोग मानते हैं। केवल स्वच्छता को मानता हूँ और यदि मैं जो खाता हूँ वह मिले तो ग्रहण कर लेता हूँ। मानव-मात्र एक है – यही मेरा भाव है और जो समाजिक बन्धन इसमें संकीर्णता लाता है, उसे मैं मानने को तैयार नहीं हूँ। लेकिन वह भोजन तो आपके लिए है, यदि हम दोनों ही हिस्सा लगायें, तो दोनों का ही पेट नहीं भरेगा, विशेषकर आपको कम पड़ जायेगा। इस समय मैं थोड़ा-सा कुछ नाश्ता ही कर लूँगा, धन्यवाद।"

गार्ड – "नहीं, नहीं, कुछ भी कम नहीं होगा, थोड़े फल भी हैं; हम दोनों आनन्दपूर्वक खा लेंगे। आपका सामान किस गाड़ी में है?" उनका आग्रह देखकर आखिरकार मैं उनके साथ गार्ड-वान में जाने के लिए राजी हुआ। मेरे साथ दो पुस्तकें – 'गीता' तथा 'Imitation of christ' (ईसानुसरण) और एक कमण्डलु तथा कम्बल मात्र था। उसे लेकर उनके साथ गार्ड-वान में गया।

वहाँ स्टेशन के रेलवे पुलिस के एक सब-इंस्पेक्टर मेरे सामने पालथी मारकर बैठे थे। उन्होंने बिना पैसे दिये ही एक कांस्टेबल को पूरी-तरकारी लाने को कहा। उन्हें पैसे न देते देखकर मैंने कहा – "उससे जबरन धर्म करायेंगे क्या? आपने उसे पैसे तो दिये ही नहीं। मेरे पास हैं, दे देता हूँ। उन्होंने पैसे देकर हँसते हुए कहा – "नहीं, नहीं, बाद में दे देता।" वे अच्छे धार्मिक आदमी थे। गाड़ी छूटने का समय हो जाने पर जब मैं टिकट लाने के लिये पैसे देने लगा, तो उसे न लेकर स्वयं ही दे दिया। मैं बोला – "आपने पुलिस में रहकर भी अच्छा धर्मभाव बनाये रखा है और साथ ही उदार भी हैं। वे बोले – "यह तो आप ही लोगों का पैसा है, मेरा नहीं। जो लोग बिना-टिकट जाते हैं, उन्हें कभी-कभी पकड़ लेता हूँ और उनके पास पैसे रहने पर वसूल कर लेता हूँ। उसी में से बीच-बीच में आप लोगों जैसे किसी-किसी को कुछ दे देता हूँ।"

गाड़ी छूटने के बाद हम दोनों ने एक साथ भोजन किया। मैंने फल आदि खाये। फिर भाँति-भाँति की धर्मचर्चा करते हुए अपराह्न में चार बजे एक जंक्शन स्टेशन पहुँचे। (डायरी न रखने के कारण विवरण याद रहने पर भी अधिकांश नाम-धाम आदि भूल गये हैं और अब भी डायरी रखने का अभ्यास नहीं हो सका है)। वहीं से गदग के लिए गाड़ी बदलनी पड़ती है। सोचा था कि जल्दी से उतरकर विदाई ले लूँगा, परन्तु वे किसी भी हालत में छोड़ने को तैयार नहीं थे और अपने नौकर को मेरा सामान अपने मकान में ले जाने का आदेश दिया। उनकी इच्छा थी कि तीन रात उनके घर रहूँ।

जाकर देखा – उनकी पत्नी तेलुगू ईसाई हैं। बाद में पता चला कि पहले वे ब्राह्मण थीं। वे तीन दिन वहाँ खूब आनन्द से बीते। उन लोगों ने मेरी अच्छी देखभाल की, मानो खूब अपना होऊँ। अन्य एंग्लो-इंडियन तथा ईसाई-भाई लोग मुझे उनके मकान में देख बड़ा आश्चर्य प्रकट करते और हिन्दू भाइयों को तो उससे भी अधिक आश्चर्य होता। केवल एक ईसाई बालिका ने मुझसे पूछा था – "आप इनके यहाँ ठहरे हैं, आपकी जात नहीं जायेगी?" मैंने उत्तर दिया था – "जात होगी, तब तो जायेगी।" इस बात का उन लोगों ने खूब आनन्द लिया। बोले – "ठीक कहा, स्वामीजी, उत्तर बड़ा सुन्दर रहा !"

गदग में

चौथे दिन वहाँ से गदग गया। गार्ड ने अपने परिचित एक रेल-कर्मचारी को पत्र दिया था। वे स्टेशन पर मौजूद थे और मुझे अपने साथ अपने घर ले गये। वे एक मेकैनिकल इंजीनियर थे। रात को उन्हीं के मकान में रहा। अगले दिन सुबह वहाँ के 'अम्बाजी' (काले संगमरमर से निर्मित अष्टभुजा देवी) के मन्दिर में रहने की व्यवस्था हुई। मूर्ति बड़ी सुन्दर थी। मन्दिर भी छोटा और सुन्दर था।

मन्दिर के एक किनारे एक छोटे-से कमरे में एक वृद्ध मराठी साधु रहते थे। उसके सामने एक बरामदा था, मुझे उसी बरामदे में रहने की जगह मिली। उस दिन इंजीनियर के मकान पर ही भिक्षा की। संध्या के समय मन्दिर के मालिक ने दर्शन के लिए आकर मुझे देखकर पूछा – "भिक्षा कहाँ हुई है? कितने दिन रहने की इच्छा है?" आदि। मैंने उत्तर दिया – "कुछ दिन तो विश्राम करने की इच्छा है, क्योंकि भोजन की अनियमितता के कारण 'आँव' हो जाने से शरीर बड़ा दुर्बल हो गया है।" वे बोले – "आप जितने दिन यहाँ रहेंगे, रोज हमारे यहाँ भिक्षा करेंगे। मेरा छोटा भाई रोज साढ़े ग्यारह से बारह बजे के बीच आकर आपको ले जायेगा।"

उन दिनों अपने ही भाव में रहना अच्छा लगता था। मन निर्जन – एकान्त चाहता था। लोगों का संग या किसी विषय पर चर्चा करना बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता था। कोई कुछ पूछता, तो यथावश्यक उत्तर देता और यथासम्भव संक्षेप बोलता। किसी से परिचय होने पर भी उसका नाम-धाम आदि पूछने की इच्छा नहीं होती, अनावश्यक प्रतीत होता। सोचता – "संन्यासी के लिए यह संसार एक धर्मशाला है। क्या होगा इतनी बात पूछकर? क्या होगा परिचय लेकर?" परन्तु नित्य सभी के कल्याण हेतु प्रार्थना अवश्य करता। जिनके द्वारा जरा-सा भी उपकृत हुआ हूँ, जिन्होंने एक लोटा पानी देकर मेरी प्यास बुझाई है, उन सभी के लिए मंगल-कामना करना मेरी नित्य प्रार्थना का एक अंग-विशेष था। वैसे जिन्होंने मेरे लिए कुछ भी नहीं किया या अनिष्ट किया है, वे लोग भी उस कल्याण-प्रार्थना के बहिर्भूत न थे, क्योंकि भगवान बुद्ध के उपदेशानुसार जगत् के सभी मनुष्यों का और अन्त में सभी प्राणियों का कल्याण हो – मैं इस आन्तरिक कामना के साथ अपनी प्रार्थना समाप्त करता।

मन्दिर के मालिक काफी सम्पन्न थे। उनका एक जिनिंग (कपास ओटने) का कारखाना था। उनका स्वभाव बड़ा ही सरल और धार्मिक था। उन्हें सत्संग – साधुओं का संग बड़ा अच्छा लगता था। परन्तु अधिकांश समय वे स्वयं ही वक्ता होते और दूसरों को श्रोता का आसन सुशोभित किये रहना पड़ता था। मुझे तो इसमें कोई असुविधा ही न थी। मैं बड़े धैर्य के साथ उनकी बातें सुनता, इसी कारण मेरे ऊपर उनकी बड़ी प्रीति हो गयी थी। एक दिन सुबह छोटे भाई से संवाद भेजा – "जल्दी से भोजन करने आ जाइये। रामकृष्ण मिशन के एक विद्वान् संन्यासी आये हुए हैं, उनके साथ आपका परिचय करा देंगे।" मन-ही-मन बड़ा आनन्दित हुआ। सोचा – हो सकता है कि कोई परिचित ही निकल जाय, या फिर काफी देर बातचीत करने के बाद जब उन्हें मालूम होगा कि मैं भी उसी संघ का एक सदस्य हूँ, तो उन्हें कितना आश्चर्य होगा और बड़ा मजा आयेगा।

लगभग दस बजे उनके घर गया। जाते ही गृहपति एक सुन्दर बड़े कमरे में ले गये और एक सुन्दर दुबले-पतले दक्षिण-भारतीय साधु के साथ परिचय कराया। उन दिनों मैं 'स्वामी आत्माराम' के नाम से परिचय देता था। याद नहीं कि उन्होंने क्या नाम बताया था। उस समय वे सूटकेस से दाढ़ी बनाने का सामान निकाल रहे थे। मुझे वहीं बैठाकर और उनसे बातें करने को कहकर गृहपति किसी कार्यवश चले गये। वे दाढ़ी बनाते-बनाते बातें करने लगे। गृहपति ने पहले ही बता दिया था – "ये एक महीना रहेंगे और गीता की नियमित रूप से कक्षा होगी। अगले दिन संध्या को एक व्याख्यान देने को भी राजी हुए हैं। आदि-आदि।" इसी प्रसंग में इन्होंने मुझे भी वहाँ उपस्थित रहने को कहा।

मठ-मिशन के सभी संन्यासियों को पहचानना बड़ा ही कठिन है, विशेषकर मेरे लिए जो अधिकांश समय बाहर-ही-बाहर भ्रमण करता रहा हो। तो भी मुझे थोड़ा सन्देह-सा हुआ।

मैंने पूछा – "कौन-से केन्द्र में रहते हैं?"

उन्होंने कहा – "मैसूर में।"

तब (१९२०-२१ ई. में) वहाँ कोई केन्द्र न था, इसीलिये सन्देह और भी दृढ़ हो गया।

मैंने कहा – "वहाँ तो रामकृष्ण मिशन का सम्भवत: कोई भी केन्द्र नहीं है।"

मेरी ओर थोड़ी तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए वे बोले – "मैं वहीं रहता हूँ।"

मैंने कहा – "अच्छा ! तो क्या मैं जान सकता हूँ कि आपने किससे संन्यास लिया है?"

इस पर उनके द्वारा पूज्य तुलसी महाराज का नाम लिये जाते ही मैं समझ गया कि ये रामकृष्ण संघ के नहीं, बल्कि कोई ठग हैं। क्योंकि तब तक पूज्य तुलसी महाराज का कोई संन्यासी शिष्य नहीं था। काफी काल बाद (शायद १९२५-२६ ई. से) उन्होंने संन्यास-दीक्षा देनी शुरू की थी।

मैंने कहा – "महाशय, क्षमा करना। पूज्य तुलसी महाराज का कोई भी संन्यासी शिष्य नहीं है – यह बात मैं भलीभाँति जानता हूँ।"

उन्होंने पूछा – "आपको कैसे पता चला?"

मेरे जीर्ण-शीर्ण थेगड़ी-लगे वस्त्र, नंगे पैर और बड़े-बड़े दाढ़ी-केश और 'आत्माराम' छद्मनाम ने उन्हें भ्रम में डाल दिया था। क्योंकि ऐसा नाम तथा पोशाक मिशन के किसी संन्यासी का नहीं होता। इसीलिये उन्होंने मुझे आम साधुओं का थोड़ा सुसंस्कृत संस्करण समझ लिया था। अस्तु।

मैंने कहा – "श्रीरामकृष्ण-संघ की माँ ने मुझे आश्रय दिया है, इसीलिए मैं संघ के सभी वरिष्ठ संन्यासियों को पहचानता हूँ और वे भी मुझे पहचानते हैं। ... क्षमा कीजियेगा,

लगता है कि आप काफी शिक्षित तथा अच्छे घर की सन्तान हैं। ऐसा झूठा परिचय देकर आप अपना ही नहीं, बल्कि अन्य सब साधुओं का सामूहिक अनिष्ट कर रहे हैं। मान लीजिये यदि मैं बाध्य होकर गृहपति को यह बात सूचित कर दूँ और उनके सामने आपका सही परिचय माँगूँ, तो सोचिये – यह कितनी अप्रिय घटना होगी? उनकी श्रद्धा न केवल आपके ऊपर से उठ जायेगी, बल्कि सभी संन्यासियों के प्रति उनके मन में सन्देह का भाव उत्पन्न हो जायेगा और मुझे लगता है कि आप मिशन के नाम से रुपये भी एकत्र करते हैं ! यहाँ की पुलिस को सूचित कर देने से ... ।''

उन्होंने कहा – ''नहीं, नहीं, मैं रुपये एकत्र नहीं करता, मैं पूज्य तुलसी महाराज को गुरु के समान मानता हूँ। कुछ दिन तक मद्रास के मठ में भी था।''

मैंने कहा – ''हो सकता है, परन्तु आगे से इस प्रकार का मिथ्या परिचय मत दीजियेगा और चुपचाप यहाँ से भाग जाइये, वरना मुझे कोई-न-कोई कदम उठाना ही पड़ेगा।''

उसी समय खाने के लिए बुलावा आ गया, इसलिये और कुछ कहने का अवसर ही न मिला। तब तक उनकी दाढ़ी भी नहीं बनी थीं। उनके चेहरे का रंग काला पड़ गया था, उन्हें पसीना छूट रहा था और वे भय से काँपने लगे। मैंने उनकी प्रतीक्षा न कर भोजन किया और मन्दिर के आसन पर चला आया। रात के करीब आठ या साढ़े आठ बजे गृहपति दर्शन हेतु मन्दिर में आये। उनके चेहरे पर गम्भीरता एवं चिन्ता छायी हुई थी। मन्दिर में दर्शन करने के बाद मुझसे कहने लगे – ''स्वामीजी, वे तो संध्या की ही गाड़ी से मुम्बई चले गये। सुबह निश्चित हुआ था कि वे भाषण देंगे, एक महीना गीता पढ़ायेंगे, गीता की कक्षा होगी, परन्तु आपसे न जाने क्या बात हुई और आपने उनसे न जाने क्या कहा कि उन्होंने न तो भोजन किया और न ठहरे ही। कहने लगे – विशेष काम से मुम्बई जाना बहुत जरूरी है और स्वस्थ भी नहीं महसूस कर रहे हैं, फिर आयेंगे। मैं तो लोगों के सामने बड़ा लज्जित हूँ। लोगों को निमंत्रण दिया था। अच्छा, आपके साथ क्या बात हुई कि सारी योजना ही बदल गयी? सचमुच मैं बड़ा दुखी हूँ और लोगों के सामने लज्जित महसूस कर रहा हूँ।''

तब बाध्य होकर मैंने पूरी घटना बताई और कहा – ''ऐसे मामलों में, मठ या मिशन के नाम पर रुपये-पैसे या चन्दा माँगने पर मठ के अध्यक्ष का मोहर लगा हुआ आदेश देखे बिना कभी मत दिजियेगा। सीधे अध्यक्ष या सचिव को भेज देना ही सबसे सुरक्षित होगा। साधु का आगमन होने पर उन्हें अन्न-वस्त्र देना गृहस्थ का कर्तव्य है, वह अवश्य कर सकते हैं, पर रुपये-पैसों के मामले में सावधान रहना चाहिए। मिशन के नाम से परिचय देते ही विश्वास नहीं कर लेना चाहिये।''

वे बोले – ''तब तो आपने मुझे बचा लिया, वे रुपये लेने ही आये थे। मैंने कहा – गीता पढ़कर प्रवचन दीजिये, फिर लोगों से रुपये के लिये कहेंगे। ... और एक आप हैं, जो स्वयं रामकृष्ण संघ के होकर परिचय तक नहीं दिया। एक साधारण संन्यासी समझकर हमारी सेवा में जो त्रुटियाँ ... ।''

मैं टोकते हुए बोला – ''रामकृष्ण संघ का होते हुए भी मैं एक साधारण संन्यासी हूँ। आप सहज भाव से जो भी व्यवहार करते हैं, वह अति सुन्दर है, संन्यासी को उससे अधिक पाने की कोई आवश्यकता नहीं है।''

रात को वे मुझे अपने मकान ले गये और सबको बुला-बुलाकर कहा – ''देखो, स्वामीजी रामकृष्ण संघ के हैं, इतने दिनों बाद आज पकड़े गये। और वह दूसरा साधु संघ का नहीं था, इनके साथ परिचय होते ही डर से भाग निकला। ठग था। भगवान ने हमारी रक्षा की है।''

गदग में दस-बारह दिन तक ठहरा। निश्चय किया था कि स्वास्थ्य सुधरने पर आगरा, वृन्दावन होकर ऋषिकेश जाऊँगा।

पिछली रात एक मराठी सज्जन आकर मुझे अपने घर में 'चरणधूलि' देने के लिए विशेष आग्रह करते रहे, कैसे भी नहीं छोड़ते थे। पाँवों को पकड़कर परेशान कर डाला, अतः उनके साथ गया। उन्होंने मुझे एक बड़े कमरे में चटाई पर बैठाया और अपनी स्त्री से मराठी में कुछ कहकर चले गये। मैं कुछ समझा नहीं। वहाँ और कोई नहीं था। पूरन पूड़ी तथा दूध ला दिया। थोड़ा-सा खाया। तब भी वह नहीं लौटा था।

उसकी स्त्री मेरे पास बैठकर खिला रही और नाना प्रकार से विनय दिखा रही थी। फिर मेरा हाथ धुलाने के बाद हाथ पोंछने को अपना आँचल आगे कर दिया। मैं एकदम चौंक उठा। उसकी दृष्टि कामातुर थी। फिर सोचा – शायद मेरी ही भूल हो। मैंने आँचल स्वीकार नहीं किया – रूमाल निकालने लगा। उसने फिर अपना आँचल मेरे सामने किया और हाथ पोंछने का आग्रह करने लगी। पुरुष घर में था नहीं और वह न जाने क्या कहकर चला गया था और इसका ऐसा भाव ! दाल में कुछ काला प्रतीत होता है – ''माँ, जगदम्बे ! रक्षा करो।''

मैं दरवाजे की ओर बढ़ा। वह सामने से हट गई – हाथ जोड़कर अपनी भाषा में कुछ कह रही थी – अर्थ लगाया कि रुकने को कह रही है। बाहर निकलते ही वह आदमी एक गली में से दौड़कर आया और अपनी स्त्री से कुछ बातें करने के बाद बोला – थोड़ा विश्राम कीजिये, मैं आपको मन्दिर में पहुँचा आऊँगा।'' उसकी बात पर मैं भला कैसे ध्यान देता ! 'जगदम्बा' की कृपा से बच गया। समझ गया कि ये बीज-संग्रही के दल हैं। हाथ पोंछने के लिए आँचल – माँ, मौसी, बुआ, भगिनी या उसी तरह की मातृ-स्थानीय अति निकट स्त्री ही दे सकती है। अन्य नारी के देने से उसके द्वारा वह अपने को समर्पित करती है, यह बात मुझे एक विज्ञ संन्यासी ने बताई थी और यह सही भी है। ❖ (क्रमशः) ❖

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (१८)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

ब्रह्माण्ड (कारण)

इसके पूर्व हम जान चुके हैं कि जैसे बीज से अंकुर पैदा होता है, वैसे ही सृष्टि के प्रारम्भ में 'अव्यक्त' से सूक्ष्म आकाश का उद्भव होता है। अब प्रश्न उठ सकता है कि अव्यक्त क्या कोई वस्तु है जो आकाश में रूपान्तरित हुआ है? नहीं, अव्यक्त वस्तु नहीं है, वह शक्ति जैसी सत्ता है। ईश्वर ही एकमात्र वस्तु – एकमात्र सत् पदार्थ हैं और अव्यक्त या प्रकृति उन्हीं की शक्ति है।

प्रलय के समय नाम-रूप से युक्त कुछ भी नहीं था। उस समय देश-काल-निमित्त भी न थे। तो भी उस समय किसी भी सत्ता का नितान्त अभाव रहा हो, ऐसा भी नहीं है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस समय अवर्णनीय शक्ति से सम्पन्न एक सत्ता विद्यमान थी।[१] छान्दोग्य उपनिषद् कहती है – सृष्टि के पूर्व यह विश्व एक तथा अद्वितीय शुद्ध सत् के रूप में विद्यमान था।[२] उन्होंने संकल्प किया – "मैं एक हूँ, अनेक होऊँगा, स्वयं को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करूँगा।[३] ऐतरेय उपनिषद् कहती है – उन्होंने संकल्प किया, "मैं लोगों की सृष्टि करूँगा।" यह ईश्वरीय इच्छा ही विश्व के रूप में मूर्त हुई।[४]

ईश्वर ने स्वयं सृष्टि का संकल्प करके अपनी अनिर्वचनीय शक्ति के प्रभाव से अपने भीतर से विश्व की सृष्टि की। अव्यक्त में असंख्य प्राकृतिक रूपों को व्यक्त करने की क्षमता विद्यमान रहती है। परन्तु प्रत्येक रूप के पीछे स्वयं ईश्वर ही वस्तु सत्ता के रूप में विद्यमान रहते हैं। अव्यक्त उन्हीं की शक्ति है। इसीलिये कहते हैं कि विश्व का निमित्त कारण भी वे हैं और उपादान कारण भी वे ही हैं अर्थात् वे ही निर्माता भी हैं और वे ही उपकरण भी हैं। वेदान्त का यही मत वर्तमान हिन्दू समाज का प्रधान आधार है। वैसे सांख्य, न्याय, वैशेषिक, चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन सृष्टि के बारे में भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना करते हैं। परन्तु मोटे तौर पर वर्तमान हिन्दू सम्प्रदाय सृष्टि के बारे में वेदान्त के इसी मत को स्वीकार करते हैं।

अस्तु। ब्रह्माण्ड के उपादान और निमित्त कारण ईश्वर अपने अमोघ संकल्प तथा अपूर्व शक्ति के प्रभाव से इस चराचर विश्व को रूपायित करते हैं। प्रारम्भ में वे सूक्ष्म आकाश-तन्मात्रा के रूप में अभिव्यक्त होते हैं; उसके बाद वे वायु में रूपान्तरित होते हैं। इस प्रकार एक के बाद एक विभिन्न तन्मात्राओं के रूप में स्वयं को प्रकट करके अन्त में वे हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) के रूप में मूर्त होते हैं। इसके बाद वे हिरण्यगर्भ के माध्यम से स्वयं को स्थूल-सूक्ष्म असंख्य ब्रह्माण्डों और उनके अन्तर्गत अखिल चराचर प्राणियों के रूप में स्वयं को व्यक्त करते रहते हैं। इसीलिये ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक और ब्रह्मलोक से इस पृथ्वी तक प्रत्येक स्थूल या सूक्ष्म, चेतन या अचेतन पदार्थ में, अपनी दुर्ज्ञेय माया-शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होकर किसी एक विशेष नाम या रूप के आवरण में वे ही विराजित हैं।

क्या वे सचमुच ही विकृत होकर इस ब्रह्माण्ड के रूप में परिणत हो जाते हैं? वेदान्तवादी एक सम्प्रदाय का कहना है – हाँ, ऐसा ही है। जैसे मिट्टी का विकार बर्तन है, जैसे सोने का विकार आभूषण है, जैसे लोहे का विकार उसके यंत्र आदि हैं, ठीक वैसे ही ईश्वर का विकार यह ब्रह्माण्ड भी है। जैसे समुद्र का पानी बुलबुला, फेन, तरंग आदि में परिणत हो जाता है, वैसे ही ईश्वर भी इस अखिल ब्रह्माण्ड में परिणत हो जाते हैं। इस सम्प्रदाय के मतानुसार ईश्वर अपनी संकल्प-शक्ति से स्वयं को वास्तव में विश्व-ब्रह्माण्ड के रूप में परिणत करते हैं और अन्तर्यामी के रूप में इसके भीतर रहकर इसे नियंत्रित करते रहते हैं। यही विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का परिणामवाद है। वर्तमान युग के समस्त भक्तिमार्गी सम्प्रदायों, विशेषकर वैष्णव सम्प्रदायों का दृष्टिकोण काफी कुछ इसी प्रकार का है।

परन्तु अद्वैतवादी लोग यह स्वीकार नहीं करते कि सृष्टि-क्रिया के दौरान सचमुच ही ईश्वर में कोई विकार या परिवर्तन होता है। ब्रह्म निर्विकार है और चिर काल तक वैसा ही रहता है। इस विश्व की सत्ता वास्तविक नहीं, प्रातिभासिक है। ब्रह्म विश्व के रूप में प्रतिभात होते हैं। जिन विभिन्न नाम-रूपों के माध्यम से वे प्रकट होते हैं, वे सभी भ्रम हैं, उनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम होने से रस्सी में कोई परिवर्तन नहीं आता, वैसे ही हम भ्रान्तिवश ब्रह्म को ब्रह्माण्ड के रूप में देखते हैं, तो इससे उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। हम लोग मानो मोहाविष्ट होकर विश्व का अवलोकन करते हैं। जब मोह का नशा दूर हो जाता है

---

१. ऋग्वेद, १०/१२९/१-२ २. छान्दोग्य उपनिषद्, ६/२/१
३. वही, ६/२/१, तैत्तिरीय उप., २/६ ४. ऐतरेय उप., १/१/१-२

(जैसा कि निर्विकल्प समाधि में), तब जैसे नमक की डली समुद्र के जल में घुल जाती है, ठीक वैसे ही समग्र विश्व निर्विकार परब्रह्म में विलीन हो जाता है।

परमेश्वर की अनिर्वचनीय माया-शक्ति इस मिथ्या नाम-रूपात्मक प्रवाह की सृष्टि करती है। यह शक्ति अविद्या के स्वभाव वाली है। यह आवरणी-शक्ति और विक्षेप-शक्ति – दोनों का संयुक्त रूप है। इनमें से पहली पारमार्थिक सत्ता को ढँक देती है और दूसरी मिथ्या नामों तथा रूपों का विस्तार करके उसी सत्ता को अन्य रूप में व्यक्त करती है। जैसे एक छोटे-से बीज में एक विशाल पीपल के वृक्ष के सृजन की शक्ति प्रच्छन्न रहती है, वैसे ही इस अनिर्वचनीय शक्ति में चिर-परिवर्तनशील वैचित्र्यमय विश्व के असंख्य रूप-प्रवाहों की सृष्टि करने की क्षमता प्रच्छन्न रहती है। पिछले कल्प के सभी जीवों की कामनाएँ, संस्कार तथा कर्मफल 'अव्यक्त' में निहित रहते हैं और परवर्ती कल्प में अव्यक्त से ही उनकी अभिव्यक्ति के उपयोगी रूप-प्रवाह निर्गत होता रहता है।

मोटे तौर पर हमने देखा कि अद्वैतवादी सम्प्रदाय के मतानुसार जगत् की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है; केवल आपेक्षिक या व्यावहारिक सत्ता मात्र है। जब तक हम मायाग्रस्त रहते हैं, तभी तक जगत् का अस्तित्व है। जिस क्षण कोई व्यक्ति इस अविद्या के प्रभाव से पूर्णत: मुक्त होकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है अर्थात् परमात्मा के साथ एकत्व की अनुभूति कर लेता है, उसी क्षण विश्व की आपेक्षिक सत्ता लुप्त हो जाती है। यह तत्त्व शास्त्र-सम्मत और अनुभूति-सिद्ध है। जैसे स्वप्न की वस्तु या घटना जाग्रत अवस्था में अदृश्य तथा अत्यन्त निरर्थक हो जाती है, वैसे ही अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होते ही विश्व-ब्रह्माण्ड का दृश्य-पट शून्य में विलीन हो जाता है। तब चिरन्तन परम सत्ता का बोध होता है और इसीलिये मनुष्य सचमुच का प्रबुद्ध हो जाता है। इस अवस्था में अनुभूत परम सत्ता की तुलना में ब्रह्माण्ड स्वप्न के समान नितान्त ही मिथ्या है।

जब तक स्वप्न देखा जाता है, तब तक उसकी दृश्यावली सत्य ही प्रतीत होती है। उसी प्रकार व्यक्ति जब तक अविद्या के प्रभाव में रहता है, तब उसे ब्रह्माण्ड भी वास्तविक प्रतीत होता है। परन्तु परम सत्ता का बोध हो जाने पर ब्रह्माण्ड का कोई भी मूल्य, सार्थकता या अस्तित्व नहीं रह जाता। इसीलिये कहते हैं कि ब्रह्माण्ड की सत्ता कृत्रिम, सापेक्ष तथा भ्रमात्मक है – इसमें त्रिकाल अबाधित सत्यता नहीं है। इसकी सत्ता व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। रस्सी में साँप, मरुभूमि में मरीचिका, स्वप्न में दृश्य आदि के समान ही यह विश्व सत्य भी नहीं है और पूर्णत: असत्य भी नहीं है।

इन्द्रजाल के समान परब्रह्म में नाम-रूप का आवरण प्रातिभासिक होने के कारण उसकी रचयिता माया भी प्रातिभासिक है। विश्व के समान ही विश्व की रूपायिनी शक्ति सत्य भी नहीं है और पूर्णत: असत्य भी नहीं है। यह 'सत्-असत्-अनिर्वचनीय-रूपा' है। इस दुर्ज्ञेय मायाशक्ति के प्रभाव से विश्व की अभिव्यक्ति होती है। सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान, मायाधीश ईश्वर ही इस अघट को घटाते हैं। वे ही जादूगर हैं और माया उनकी जादुई-शक्ति है। इस जादुई शक्ति के प्रभाव से वे अपनी पारमार्थिक सत्ता की पटभूमि में विश्व की ऐन्द्रजालिक मूर्ति का सृजन करते हैं।

चलचित्र के परदे के पर भाँति-भाँति की जो चीजें दिखाई देती हैं, उन सबका उपादन केवल प्रकाश है। पानी, आग, मिट्टी, पेड़-पौधे, कल-पुर्जे, जीव-जन्तु आदि जो कुछ भी हम उस परदे पर देखते हैं, वह सब केवल प्रकाश से ही निर्मित होता है। प्रकाश और उसकी अभाव-रूप छाया ही इस इन्द्रजाल की रचना करती हैं। सिनेमा दिखाने के यंत्र में फिल्म के पीछे जो प्रकाश है, वह केवल एक ज्योति-प्रवाह मात्र है, उसका कोई विशिष्ट आकार नहीं है। फिल्म न रहे, तो हम केवल एक सफेद परदा ही देखेंगे। फिल्म को हटा लेने पर सचमुच वैसा ही दिखाई देता है। फिल्म का कार्य है प्रकाश की स्वच्छन्द गति को रोकना, उसे फिल्म के कुछ हिस्सों को भेदकर जाने का मार्ग मिलता है और कुछ हिस्सों को भेदकर जाने का मार्ग नहीं मिलता। फिल्म के इस आंशिक बाधा के कारण परदे के ऊपर प्रकाश-छाया का एक सुसम्बद्ध अद्भुत समावेश दिखाई देता है। छाया के द्वारा आंशिक रूप से खण्डित होकर प्रकाश ही परदे के ऊपर अनेक प्रकार के दृश्यों के रूप में प्रकट होता है। एक अन्य ध्यान देने की बात यह है कि चलचित्र की जो गति हमारे देखने में आती है, उसका प्रकाश की गति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सिनेमा दिखाने के यंत्र में प्रकाश सर्वदा स्थिर रहता है। केवल फिल्म के खिसकते जाने से वह प्रकाश नये नये रूपों में बाधित होने के कारण परदे पर छायाओं का समूह प्रतिक्षण बदलता रहता है और उसी से चलते-फिरते दृश्यों का भ्रम उत्पन्न होता है।

जगत्-रूपी भ्रम भी करीब इसी प्रकार हुआ करता है। ईश्वर सिनेमा-यंत्र के प्रकाश के समान और उनकी माया उसमें चलने वाली फिल्म के समान है। यद्यपि ईश्वर में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता, तथापि वे असंख्य नाम-रूपों की छायाओं के माध्यम से अनन्त विचित्र पदार्थों के रूप में मूर्त होते हैं। वैसे यदि चलचित्र का परदा भी केवल प्रकाश ही होता और यदि उसी में विभिन्न प्रकार की छायाएँ डालकर भाँति-भाँति के रूप उत्पन्न करने की क्षमता होती, तो यह उपमा पूर्णांग हो जाता; क्योंकि भगवान अपनी माया की सहायता से अपने ही ऊपर विश्व का रूप प्रकट करते हैं। माया ईश्वर के स्वरूप को आवृत्त करती है और असंख्य

नाम-रूपों की छायाएँ डालकर उसका जगत् के रूप में बोध कराती है। चलचित्र की छायाओं के समान ही नाम और रूप पूर्णत: मिथ्या होते हैं।

अब इस उपमा का थोड़ा और विस्तार करके देखें। मान लीजिये कि यदि कोई दर्शक इस चित्रपट के जादू का मूल उद्गम ढूँढ़ना चाहता है, तो वह क्या करेगा? उसे निश्चित रूप से दृश्यपट से मुख फेरकर सिनेमा-यंत्र की ओर आगे बढ़ना होगा। वहाँ जाकर वह समझ जायेगा कि फिल्म और उसके पीछे का प्रकाश मिलकर इस छायाभ्रम की सृष्टि कर रहे हैं। ठीक इसी प्रकार अनेक तत्त्वद्रष्टा महापुरुषों ने प्रकृति के प्रातिभासिक दृश्यपट से अपनी दृष्टि को फेरकर, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर तथा उनकी अघटन-घटन-पटीयसी माया के रूप में उसके मूल उद्गम को जान लिया था।

किसी-किसी ने और भी एक सीढ़ी ऊपर चढ़कर देखा कि वहाँ माया, नाम-रूप की अपनी असंख्य विविधताओं के साथ पूर्णत: लुप्त हो जाती है और विराजती है नाम-रूपों तथा गुणों से रहित केवल एक अखण्ड सत्ता। ये ही वे एक तथा अद्वितीय परब्रह्म हैं, जो माया के सहयोग से परमेश्वर के रूप में प्रकट होते हैं। अर्थात् जब तक अविद्या के प्रभाव से हमारी चेतना में विश्व का रूप बना रहता है, तब तक परब्रह्म अनिर्वचनीय माया-शक्ति के स्वामी परमेश्वर के रूप में प्रकट रहकर विश्व की सृष्टि, पालन तथा संचालन करते रहते हैं।

अद्वैतवादी वेदान्तियों की सृष्टि-व्याख्या मोटे तौर पर इसी प्रकार है। उसमें स्वप्न और अध्यास-भ्रम[५] के दृष्टान्त के द्वारा निर्विकार ब्रह्म के जगत्-रूपी विकार की व्याख्या की गयी है। इस माया-शक्ति को स्वीकार करके इस समस्या का समाधान किया गया है; वह एक ऐसी सत्ता है, जो नित्य भी नहीं है और अनित्य भी नहीं है। यह सत्ता अवर्णनीय है। ब्रह्म का एक साथ ही विकार तथा विकारशून्य (विशुद्ध) होना जैसे हमारी धारणा के परे है, वैसे ही माया में सत्य तथा मिथ्या – इन दोनों विपरीत अवस्थाओं का समावेश भी हमारी धारणा के परे है। यहाँ क्या ऐसा नहीं लगता कि एक पहेली को सुलझाने के लिये एक अन्य पहेली का सहारा लिया गया है? और इसके फलस्वरूप सृष्टि-तत्त्व क्या एक दुर्ज्ञेय पहेली के जैसा ही नहीं रहा गया?

वस्तुत: सृष्टि का रहस्य कभी भी खुलने की सम्भावना नहीं है। सृष्टि के पीछे ईश्वरीय प्रेरणा और उसका प्रथम उन्मेष एक शाश्वत पहेली है। यह अनिर्दिष्ट क्रिया किसी भी प्राकृतिक घटना की श्रेणी में नहीं आती, क्योंकि सृष्टि के पूर्व देश-काल तथा निमित्त का अस्तित्व ही नहीं था। तब भी उनका आविर्भाव नहीं हुआ था। इसीलिये सृष्टि के इस आदिपर्व के सम्बन्ध में 'क्यों' और 'कैसे' आदि प्रश्न ही नहीं उठ सकते। परम पुरुष हमारी वाणी तथा मन के परे हैं और उसी प्रकार उनकी सृष्टि का आरम्भ भी है।

सृष्टि-रहस्य की दुर्बोध्यता के बारे में ऋग्वेद में एक स्पष्ट संकेत मिलता है – "इस विचित्र सृष्टि का मूल कहाँ है – इसे कौन भलीभाँति जानता है और कौन इसका समुचित वर्णन कर सकता है? इसीलिये कौन कह सकता है कि इसका उद्गम कहाँ से हुआ?"[६] शास्त्रों से यह बात ज्ञात होती है कि परमेश्वर ने स्वयं को ही विश्व में परिणत किया है और तत्त्वद्रष्टाओं की अनुभूति में इसका समर्थन भी मिलता है। केवल तर्क के द्वारा ही इस विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव है, क्योंकि सृष्टि की घटना हमारी धारणा-शक्ति के परे की वस्तु है। नित्य निर्विकार परम ब्रह्म, चिर-गतिशील असंख्य वैचित्र्यमय विश्व के रूप में परिणत हुए हैं – हमारे स्वभाव-सिद्ध युक्ति के लिये ऐसी अस्वाभाविक बात को स्वीकार करना असम्भव है। तथापि मानवीय बुद्धि के अगम्य यह तत्त्व एक अनुभूति-सिद्ध तथ्य है, अत: इसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। यह तथ्य दो विपरीत भावों का समावेश प्रकट करता हुआ हमारी मेधा-शक्ति को बाधित कर देता है। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार इसी को माया कहते हैं। पूरी तौर से पूर्ण तथा निर्विकार रहकर भी अपनी इच्छानुसार सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करना परमेश्वर के लिये सम्भव है। उनकी प्रकृति ऐसी ही दुर्ज्ञेय है; उनकी शक्ति ऐसी ही रहस्यमय है। वे क्यों और कैसे सृष्टि करते हैं – इसका अन्तिम उत्तर पाने के लिये ज्यादा सिर खपाने से कोई लाभ नहीं होगा।

वैसे भगवान की प्राप्ति हो जाने पर सृष्टि-तत्त्व का बोध हो सकता है। उन्हें जान लेने से सृष्टि का सब कुछ जानना हो जाता है, सभी रहस्य खुल जाते हैं। निज-निज अनुयाइयों को भगवान की प्राप्ति की ओर अग्रसर करा देना ही प्रत्येक हिन्दू सम्प्रदाय का लक्ष्य है। भगवान की प्राप्ति के लिये विभिन्न सम्प्रदाय विभिन्न साधन-पथों का निर्देश देते हैं और उसी के साथ सामंजस्य करते हुए इस अनिर्वचनीय सृष्टि-रहस्य की भी व्याख्या करते हैं। इनमें से कोई भी अबोधगम्य सृष्टि-रहस्य का ठीक-ठीक वर्णन नहीं हो सकता। तो भी सृष्टि-विषयक प्रत्येक कथा की सार्थकता अवश्य है, क्योंकि विशेष रुचि तथा क्षमता से सम्पन्न किसी भी श्रेणी के व्यक्ति को यह भगवान की प्राप्ति के लिये प्रेरणा देता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर किसी भी सम्प्रदाय का सृष्टि-विषयक वर्णन निरर्थक नहीं लगेगा।

❖ (क्रमश:) ❖

५. रस्सी में सर्प के समान भ्रम

६. को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्, कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि:। अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा, को वेद यत आवभूव ॥ १०.१२९.६

श्रीमाँ के पुण्य सान्निध्य में

भगिनी देवमाता

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

❖ (उत्तरार्ध) ❖

उनके आशीर्वाद एवं शिक्षा पाने के लिए असंख्य भक्त उनके चरणों में आया करते थे। उन्होंने स्वयं मुझसे कहा था कि जब वे अपने गाँव में रहती थीं, तो कई बार व्याकुल आगन्तुक उन्हें रात के दो-तीन बजे ही जगा देते। वे लोग दिन की प्रचण्ड धूप से बचने के लिये संध्या के बाद ही अपनी लम्बी यात्रा शुरू करते, इसीलिए उन्हें पहुँचते देर हो जाती। प्राय: ये सभी दर्शनार्थी उनसे अपरिचित होते। पर माँ की यह रीति थी कि वे तत्काल उठकर अपने हाथों खाना बनातीं और उन्हें खिलाकर विश्राम के लिये उस अतिथिशाला में भेज देतीं, जो उसी गाँव के उनके एक शिष्य ने भक्तों के लिए बनवा दी थी।

कलकत्ते में भी प्राय: प्रतिदिन बाहर से आये भक्त उन्हें प्रणाम निवेदित करने आते। उनके लिये इन सब बातों का कोई महत्त्व न था कि वे कहाँ से आये हैं। जाति-धर्म की तथा भौगोलिक सीमाओं का मानो उनके लिये कोई अस्तित्व ही न था। चाहे कोई पूरब से आया हो या पश्चिम से, उनका वही स्निग्ध स्वागत सबकी प्रतीक्षा करता था। सभी उनकी एक-सी सन्तानें थीं। उनका मातृ-हृदय ऐसा सर्वग्राही था कि पर-सन्तान को भी अपने प्रेम में समेट लेता था। और समग्र मानव-समाज ही उनका परिवार था।

महान् आध्यात्मिक विभूति श्रीरामकृष्ण के साथ कम आयु में ही उनका विवाह हो गया था। वस्तुत: यह केवल मँगनी भर थी। इस अनुष्ठान के बाद भी वे अपने माता-पिता के साथ अपने गाँव में रह गयीं और उनसे उम्र में काफी ज्येष्ठ उनके पति दक्षिणेश्वर मन्दिर में अपना पुजारी का कार्य करने वापस लौट गये। अनेक वर्ष बीत गये। ईश्वर-प्राप्ति के लिये व्याकुलता ने उनके पति के चित्त को अभिभूत कर दिया था। इससे उन्हें सर्वोच्च अनुभूति का आलोक तो मिला था, परन्तु उनकी सारी मानवीय भावनाएँ जा चुकी थीं।

हल्की-सी अफवाहों ने बंगाल में स्थित उनके गाँव में पहुँचकर इस तरुणी पत्नी को आगाह कर दिया था कि उसे एक विशेष प्रकार का वैधव्य भोगना होगा। तथापि भारतीय पत्नी की अटूट निष्ठा के साथ वे प्रतीक्षा करने लगीं। बाद में सब कुछ स्वयं ही देखने तथा जानने की आकुलता से वे पैदल ही लम्बी दूरी तय करके कोलकाता के गंगातट पर स्थित उस मन्दिर में आ पहुँचीं। श्रीरामकृष्ण ने एक विह्वल शिशु के समान उनका स्वागत किया और अभिवादन करते हुए बोले – "मैं तो हर नारी में जगदम्बा को ही देखता हूँ, तुम्हें अपनी पत्नी के रूप में कैसे देख सकूँगा?" उन्होंने तत्काल उत्तर दिया – "मैं तो तुमसे कुछ माँगने नहीं, केवल सेवा करने और शिक्षा ग्रहण करने आयी हूँ।"

उस समय श्रीरामकृष्ण की अपनी माँ भी मन्दिर के उद्यान में स्थित छोटे-से नौबतखाने में रहती थीं। वे काफी वृद्ध थीं – सारदा देवी को उनके देखभाल करने की जिम्मेवारी मिली। प्रतिदिन रसोई बनाना उनका प्रधान काम था। वह भोजन श्रीरामकृष्ण प्राय: अपनी माँ के साथ ही ग्रहण करते। वे दिन बड़े सुखपूर्वक बीत रहे थे। पर एक दिन मृत्यु की छाया ने आकर शतायु वृद्धा को उठा लिया और अब सारदा देवी अकेली रह गयीं।

शहनाई वाला प्रत्येक प्रहर में पूजा के समय नौबतखाने की ऊपरी मंजिल में शहनाई बजाता, पर निचली मंजिल के जिस कमरे में माँ का निवास था, उसमें पूर्ण शान्ति रहती। कमरे के सामने के बरामदे में सिर की ऊँचाई तक ताड़ के पत्तों की बाड़ थी। उसमें एक छिद्र था, जिससे चारों ओर फैले उद्यान का कुछ अंश दीख पड़ता था। श्रीरामकृष्ण की एक झलक पाने की आशा में माँ वहीं पर दिन भर और देर रात तक खड़ी रहतीं। पर सब व्यर्थ सिद्ध होता। यहाँ तक कि ठाकुर जब आधी रात के समय पंचवटी में ध्यान करने जाते, तो वहाँ वे चादर से अपना सिर ढँके रहते। यह सब बताते हुए माँ कहतीं – "सचमुच, वह मेरे लिए एक परीक्षा थी।"

क्रमश: कुछ बंगाली महिलायें आकर उनके पास रहने लगीं। ठाकुर का सान्निध्य पाने को उत्सुक इन भक्त-महिलाओं से उनका छोटा घर भर गया। (इसी बीच) शिष्यगण भी ठाकुर के पास आने लगे। इस प्रकार उनका आध्यात्मिक परिवार बढ़ता जा रहा था। एक बार ठाकुर ने उनसे कहा था

– "देखो, लोगों के बाल-बच्चे होते हैं और वे प्राय: बुरे तथा अवज्ञाकारी होते हैं। वे माँ-बाप को बड़ा कष्ट देते हैं, परन्तु तुम्हारे पास मैं जिन लड़कों को लाया हूँ, वे सभी शुद्ध-स्वभाव और अच्छे हैं। ये तुम्हें कभी कष्ट नहीं देंगे।"

चाहे जितने भी लोग क्यों न आयें, माँ उनके लिए खाना बनाते कभी थकती न थीं। बीच-बीच में उनकी निपुणता की परीक्षा भी हो जाती। एक शाम कुछ गणमान्य लोग ठाकुर से मिलने आये। उस समय कोई हरी सब्जी उपलब्ध नहीं थी। बन्द गोभी के कुछ परित्यक्त पत्ते और पिछली रसोई के समय बेकार समझे गये सब्जियों के कुछ टुकड़े मात्र थे। माँ बड़ी चिन्ता में पड़ीं। पर गोलाप-माँ ने आश्वस्त किया कि वे इन्हीं से बहुत अच्छा खाना बना सकेंगी। उत्तर में माँ ने हँसते हुए कहा – "ठीक है, मैं प्रयास करके देखती हूँ। यदि अच्छी हुई, तो सारी प्रशंसा तुम्हारी होगी। और यदि अच्छी नहीं हुई, तो बदनामी भी तुम्हीं को लेनी होगी।" वे जल्दी से खाना बनाकर श्रीरामकृष्ण के कमरे में ले गयीं। श्रीरामकृष्ण ने विस्मित होकर पूछा कि इतनी अच्छी सब्जी बनाने के लिये उन्हें सामग्री कहाँ मिली?" माँ ने वह प्रशंसा या श्रेय स्वयं न लेकर, सब कुछ गोलाप-माँ को दे दिया।

दक्षिणेश्वर में माँ हमेशा नहीं रहीं। कुल मिलाकर वे वहाँ १५ वर्ष रहीं, पर लगातार नहीं। बीच-बीच में जब वे अपने गाँव जातीं, तो लम्बा अन्तराल पड़ जाता। मन्दिर निर्माण करानेवाली भक्तमती विधवा रानी रासमणि के जमाई मथुर बाबू श्रीरामकृष्ण से कहते – "बाबा, आप ठीक से खा नहीं रहे हैं। पकाने के लिए माँ को क्यों नहीं बुलवा लेते?" और तब माँ प्रसन्नचित्त से नौबतखाने के बरामदे के बने अपने चूल्हे के पास लौट आतीं।[४]

बाद में न केवल पतिदेव के लिये भोजन बनाने, अपितु उसे उनके पास ले जाने और पास बैठकर खिलाने का भी सौभाग्य उन्हें मिला था। तथापि वे बालिका-सुलभ लज्जा का परित्याग नहीं कर सकीं और अपना मुख सदैव घूँघट से ढँके रहतीं। एक संध्या की बात उन्होंने हमें बताया था। उस दिन वे एक ब्राह्मण भक्त-महिला के साथ ठाकुर के कमरे में खाना लेकर गयी थीं। ठाकुर ने ईश्वरीय बातें आरम्भ की और सारी रात वही चर्चा चलती रही – कितना समय बीत गया, किसी को भी होश नहीं था। माँ ने कहा – "जब प्रभात की किरणें निकली, तो देखा उनके सामने खड़ी हूँ और सिर से घूँघट हट गया है। उनकी उस अपूर्व बातों के सम्मोहन में मैं स्वयं को भी भूल गयी थी। दिन की रोशनी में होश आने पर मैं जल्दी से घूँघट खींचकर नौबत की ओर भागी।"

नौबतखाने में रहते समय उनका जीवन बिल्कुल सरल था। अन्य किसी के जागने के पहले ही वे भोर के तीन या चार बजे उठकर गंगा-स्नान करने जातीं और सूर्योदय-पूर्व के शान्त परिवेश में ध्यान करतीं। किसी ने मुझसे कहा – "माँ कभी ध्यान नहीं करतीं।" परन्तु मुझे लगता था कि यह सच नहीं हो सकता। एक दिन बातों के दौरान उन्होंने फुसफुसाती आवाज में स्वीकार किया सुबह ४ से ६ बजे के दौरान ध्यान का उनका विशेष समय होता है। भारतीय नारी सभी विषयों पर खुलकर बातें कर सकती है; परन्तु जो समय वह ईश्वर-उपासना में लगाती है, उसके बारे में नहीं बोलती। उसे वह पवित्र रहस्य के समान स्वयं तक ही सीमित रखती है।

ठाकुर के लिए भोजन बनाने और दक्षिणेश्वर में ठाकुर के पास आनेवाले भक्तों की बढ़ती हुई संख्या की देखभाल करने में ही उनका सारा दिन बीत जाता। उनकी रात कैसे बीतती, इसका आंशिक परिचय एक भक्त[५] की बातों से मिलता है। एक बार इन भक्त का ठाकुर में विश्वास क्षण भर के लिए डगमगाया था। एक नौकरानी के मुँह से उल्टी-सीधी बातें सुनकर उनके मन में सन्देह उठा और वे इसका सत्यापन करने को मन्दिर के उद्यान में छिप गये। चाँदनी रात थी। उन्होंने देखा कि ठीक आधी रात के समय श्रीरामकृष्ण के कमरे के द्वार खुले और वे कमरे से निकलकर तेज कदमों से नौबतखाने की ओर बढ़े। इसके बाद वे नौबतखाने के आगे निकलकर पंचवटी में जाकर अपने ध्यान के स्थान पर बैठ गये। तब वे भक्त आत्मग्लानि से अधीर होकर रोते हुए दौड़कर श्रीरामकृष्ण के चरणों में गिर गये और उनसे अपनी मूर्खतापूर्ण शंका की बात कही। श्रीरामकृष्ण इस पर मृदु हास्य के साथ बोले – "तुम्हारी माँ के पास जाकर क्या होगा रे? इस समय तो वह इस जगत् में ही नहीं है। उसका मन इसके काफी ऊपर उठा हुआ है। आते समय तुमने देखा नहीं कि वह ऊपर के बरामदे में गहन ध्यान में निमग्न है?"

माँ के अन्दर कामना नाम की कोई चीज ही नहीं थी। श्रीरामकृष्ण के अनुरागियों में कई बड़े-बड़े व्यवसायी भी थे। वे लोग अगस्त-सितम्बर के महीने में काफी मात्रा में चावल, दाल तथा अन्य सामग्री ले आते थे। एक बार एक व्यक्ति[६]

४. यहाँ लेखिका से थोड़ी भूल हुई है – माँ को दक्षिणेश्वर लिवा लाने के लिए मथुर बाबू द्वारा श्रीरामकृष्ण से इस प्रकार अनुरोध किये जाने पर भी उनके जीवन-काल में माँ दक्षिणेश्वर नहीं आ सकीं। मथुर बाबू की मृत्यु (१६ जुलाई, १८७१) के कई माह बाद, मार्च १८७२ में वे पहली बार दक्षिणेश्वर आयीं। माँ के पहली बार दक्षिणेश्वर आने पर श्रीरामकृष्ण ने कहा था – "तुम इतने दिनों बाद आयी! अब क्या मेरा सेजो बाबू (मथुर बाबू) हैं जो तुम्हारी देखभाल करेगा! मेरा दाहिना हाथ टूट गया है।" (श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी गम्भीरानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, संस्करण २००३, पृ. ४३) – सम्पादक

५. श्रीरामकृष्ण के तरुण भक्त योगीन्द्रनाथ, जो बाद में योगीन महाराज – स्वामी योगानन्द हुए। माँ के प्रथम मंत्रशिष्य तथा सेवक। – सं.

६. मारवाड़ी भक्त – लक्ष्मीनारायण। – सम्पादक.

तकिये में सिलाकर दस हजार रुपये ले आया। श्रीरामकृष्ण ने कहा – "मुझे यह सब नहीं चाहिए। इसे लेकर मैं क्या करूँगा? इसे तुम माँ के पास ले जाओ।" माँ ने बताया – "वह व्यक्ति मेरे पास रुपये ले आया और उसके साथ ठाकुर भी आये। मानो मेरी परीक्षा लेने के लिए ही वे बोले, 'देखो, तुम्हें पहनने को कभी जवाहरात और गहने नहीं मिले। इन रुपयों से तुम वह सब खरीद सकती हो।' मैंने कहा, 'पर मैं जवाहरात और गहने लेकर क्या करूँगी? मुझे वह सब नहीं चाहिए।' और उस व्यक्ति को अपने रुपयों के साथ लौट जाना पड़ा था।"

एक बार लगा कि माँ के रहने के लिये उस परदे से घिरे नौबतखाने के बरामदे की अपेक्षा थोड़े अधिक खुले तथा हवादार स्थान की जरूरत है। एक भक्त ने इसके लिये दो वृक्ष भेंट किये। दोनों वृक्षों के बड़े-बड़े लट्ठे गंगा में बहाकर लाये गये। माँ ने श्रीरामकृष्ण के भानजे हृदय से कहा कि वह उन्हें मजबूती के साथ मन्दिर के घाट से बाँध दे। परन्तु हृदय ने केवल बाहरी लट्ठे को ही बाँधा। फल यह हुआ कि रात में ज्वार उठा और भीतरी लट्ठा बहकर गंगा के बीच धार में चला गया। अगले दिन सुबह खूब शोरगुल मचा, क्योंकि दोनों लट्ठों की कीमत पाँच सौ रुपये थी। हृदय उल्टे माँ को ही बुरा-भला कहने लगा कि उनके अविश्वास के कारण ही सब हुआ है। पर श्रीरामकृष्ण ने हृदय की कठोर भर्त्सना करते हुए उसे गंगा के बीच से लट्ठा ले आने को भेजा। इसके बाद उन दो लट्ठों को चिरवा कर मन्दिर के पास के गाँव में माँ के लिए एक छोटा-सा घर बनवाया गया।

मैं जब माँ से मिलने गयी थी, तब तक इन घटनाओं को हुए काफी काल बीत चुका था। इसी दौरान दक्षिणेश्वर एक तीर्थ के रूप में परिणत हो चुका था और ठाकुर के अनुयायी उनकी जीवन्त उपस्थिति का सौरभ अपने प्राणों में भर लेने के लिए वहाँ आने लगे थे। उन दिनों माँ श्रीरामकृष्ण के शिष्यों द्वारा बनवाये गये एक मकान में निवास करती थीं। वे और सदा उनके साथ रहनेवाली कुछ शिष्य-महिलाएँ उस मकान की दूसरी मंजिल में रहती थीं।

वे भी अन्य महिलाओं के समान ही, सबके साथ एक ही तरह के गृहकार्य करते हुए वहाँ रहतीं। उनमें कहीं भी स्वयं को दूसरों से विशिष्ट रखने की कोई चेष्टा नहीं थी। भेद केवल इतना ही था कि अन्य महिलाओं की अपेक्षा वे कहीं अधिक संकोची, अधिक मृदु तथा अधिक विनम्र थीं। एक दिन की बात मुझे याद है। मैंने देखा कि एक गाँव से मिलने आये एक देहाती ब्राह्मण को उन्होंने बड़ी भक्ति के साथ प्रणाम किया था। कारण केवल इतना ही था कि वे ब्राह्मण एक गाँव के कुलगुरु थे। बाह्य आचरण के आधार पर वे घर में सबसे साधारण प्रतीत होतीं। परन्तु उनकी सहजता के आवरण के पीछे उनकी उदात्त महिमा विराजती थी, जो हृदय को अभिभूत करके विनयपूर्वक उनके चरणों में अवनत होने को विवश करती थी। उनका बाह्य मानवीय आवरण नितान्त क्षीण और उनमें निहित दैवी चेतना के आलोक को ढँक पाने में असमर्थ था। वे कभी उपदेश नहीं देतीं, यदा-कदा सलाह मात्र देतीं। वे केवल जीवन यापन करतीं। और कौन कह सकता है कि उनके इस जीवन-यापन मात्र से ही कितने लोगों के जीवन पवित्र तथा उन्नीत हो गये?

(शेष अगले पृष्ठ पर)

सारदा-स्तुतिः

रवीन्द्रनाथ गुरुः

देहि देवि ! दर्शनम्, मोह-सुप्ति-नाशनम् ।
ब्रह्मचर्य-तेजसा तु, भातु हेऽम्ब ! जीवनम् ।।

– "हे देवि ! हे माँ सारदा ! हमें अपना वह दर्शन प्रदान कीजिये, जिससे मोह-निद्रा दूर हो जाती है। हे माता, ऐसी कृपा करो कि ब्रह्मचर्य के तेज से हमारा जीवन उद्भासित हो उठे।

ब्रह्म-कर्म-दक्षता, शं तनोतु सर्वथा ।
ज्ञान-पद्म-गन्ध-माधुरी-हृताऽस्तु दुःस्थता ।।

– "वैदिक ज्ञान की निपुणता सारे जग में कल्याण का विस्तार करे और ज्ञान-पद्म के सुगन्ध की माधुरी सबकी दुरवस्था का नाश करे।"

स्वस्थता विराजताद् दीव्यतान् मनुष्यता ।
अस्तु रामकृष्ण-संघ उन्नतिदो हि सताम् ।।

– "हमारा शरीर स्वस्थ रहे, मानवता दिव्य पथ पर बढ़े और 'रामकृष्ण-संघ' सज्जनों की उन्नति करे।"

दुर्गुणो विनश्यतात्,
सद्गुणस्तु भासताम् ।
सत्य-शान्ति-शीलताऽस्तु
नीतिशालिनी सताम् ।।

– "दुर्गुणों का नाश हो, सद्गुण उद्भासित हों और सत्य, शान्ति, सुशीलता सज्जनों की नीति बने।"

एहि सारदे ! चिरम्, सद्विवेक-भास्वरम् ।
मानसं प्रमोदताञ्च निर्मलं प्रतिक्षणम् ।।

– "हे माँ सारदे ! चिर काल के लिये मेरे हृदय में आओ और प्रतिक्षण मेरे सद्विवेक को आलोकित करो, मेरे चित्त को निर्मल तथा प्रमुदित करो।

दुमंजले के जिस कमरे में वे रहती थीं, उससे लगा हुआ एक बड़ा कमरा था। वह सभी लोगों के लिये मिलने-जुलने का स्थान था। उस कमरे के एक ओर पूजा-घर था, परन्तु दोनों के बीच किसी विभाजन-रेखा की आवश्यकता न थी, क्योंकि उस ऊपरी कक्ष में बैठनेवालों के जीवन में कोई अन्य संगी न था। एकमात्र ईश्वर ही उनके संगी-सहचर थे और वे लोग सहज भाव से दिन-रात का सारा समय उन्हीं के चरणों में बिताते थे। सुबह से ही भक्तों का आगमन शुरू हो जाता। वे लोग आकर पहले ठाकुर को प्रणाम करते और अपने फल -फूल बेदी के पास रख देते। और इसके बाद वे माँ को प्रणाम करते और उनके निर्देशानुसार पास बैठ जाते। वहाँ कई ऐसे तरुण थे, जो बिना माँ के आशीर्वाद के कभी अपने दैनन्दिन कार्य आरम्भ ही नहीं करते। उनके प्रति माँ का बड़ा स्नेह था, क्योंकि वे लोग माँ की गोद में ही पले-बढ़े थे।

माँ के निकट एक मृदु आनन्दमय परिवेश व्याप्त रहता। और उसी के साथ एक ऐसा प्रच्छन्न हास्य का भाव रहता कि उनके साथ किसी भी विषय पर बातें की जा सकती थीं। वे छोटे-से-छोटे विषयों में भी उत्सुकता दिखातीं और अपने साथ रहनेवाली आठ साल की भतीजी – राधू के साथ उसी के समान उत्साहपूर्वक खेल में मग्न हो जातीं। एक बार मैं अंग्रेजी दुकान से राधू के लिए 'जैक-इन-द-बाक्स' नामक खिलौना ले गयी। उसे देखकर उन्हें जो आनन्द आया था, उसकी स्मृति अब भी मेरे नेत्रों के सामने तैरने लगती है। जैक जितने बार भी अपने सुपरिचित आवाज के साथ बाक्स से उछलता, उतनी ही बार वे भी उस आवाज की नकल करके हँसी से लोटपोट हो जातीं।

एक अन्य दिन जाकर मैंने देखा कि वे काँच के मनकों की एक माला गूँथ रही हैं। राधू ने बताया – "मन्दिर की मूर्तियों के समान मेरे गोपाल के पास गहने नहीं हैं।" पर माँ के इस कार्य में कोई खेल या उपहास का भाव नहीं था। इस छोटे-से खिलौने को भी उन्होंने ईश्वर के प्रतीक-रूप में लिया था और उसे बड़े भक्तिभाव के साथ गहने से सुसज्जित किया।

माँ हम लोगों को छोड़कर जा चुकी हैं। परन्तु उनकी अन्तरात्मा आज भी हम लोगों की सतत रक्षा कर रही है। प्रयाण के पूर्व उनका यह अन्तिम पत्र मुझे प्राप्त हुआ था –

मेरी प्यारी बिटिया,

तुम मेरा आशीर्वाद जानना। बहुत दिनों बाद तुम्हारा एक पत्र मिला। बसन्त (स्वामी परमानन्द) और तुम सकुशल हो, यह जानकर मुझे बड़ी खुशी हुई। तुम मेरी बेटी हो और तुम्हीं मेरी माँ हो, क्योंकि तुमने मेरे कल्याण हेतु ईश्वर से प्रार्थना की है। बसन्त को मेरा आशीर्वाद कहना। तुम्हें भी मेरा आशीर्वाद। सबको मेरा आशीर्वाद। बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द) के देहत्याग से मुझे कितना दुख हुआ है, यह मैं शब्दों में नहीं बता सकती। बसन्त का काम-काज अच्छा चल रहा है, यह जानकर मुझे खुशी हुई। कार्य के आधिक्य के कारण वह यहाँ नहीं आ पा रहा है, यह जानकर मुझे दुख हुआ। आशा करती हूँ कि जब भी सम्भव हुआ, वह फिर यहाँ आने का प्रयास करेगा। मठ में जो भी हों, उन सभी को मेरा आशीर्वाद कहना। ठाकुर तुम सभी को अपनी योग्य सन्तान बना लें – यही मेरी प्रार्थना है। तुम अपना कुशल समाचार देना।

आशीर्वाद सहित,

तुम्हारी
माता ठकुरानी

जिन्हें माँ के सान्निध्य में रहने का दुर्लभ सौभाग्य मिला है, वे जानते हैं कि धर्म कितनी मधुर, स्वाभाविक तथा आनन्दमय वस्तु है; उन्होंने जान लिया है कि शुचिता और आध्यात्मिकता एक प्रत्यक्ष वास्तविकता हैं; उन्होंने जान लिया है कि पवित्रता एक ऐसी सुरभि है, जो भौतिक स्वार्थपरता की दुर्गन्ध को दबाकर नष्ट कर देती है। करुणा, भक्ति तथा ईश्वरानुभूति – यह माँ का सहज स्वभाव था, इतना सहज कि लोगों को वह अलग से पहचान में नहीं आता था। हृदय को शीतल करनेवाले उनके आशीर्वाद के एक शब्द या क्षण भर के स्पर्श के द्वारा उन गुणों का अनुभव किया जा सकता था।

ऐसे जीवन विस्तीर्ण जलाशय या प्रवाहमान नदी के समान हुआ करते हैं। सूर्य की किरणें उनके जल-कणों को वाष्प बना सकती हैं, परन्तु वे पुनः धरती पर गिरकर उसे शीतल कर देते हैं। ऐसे सन्त-महापुरुषों का भौतिक शरीर हमारे सामने से उठा लिया जाता है, पर उनकी पवित्र प्रेरणा हम पर पुनः वर्षित होकर हमारे क्लान्त हृदयों को नवजीवन प्रदान करती है, हमें एक नयी आध्यात्मिक चेतना प्रदान करती है और हमारे जीवन-लक्ष्य को नयी शक्ति देती है।*

❖ (क्रमशः) ❖

* 'A Woman saint of India', Days in an Indian Monastery, Sister Devamata, Ananda Ashrama, La Crescenta, California, 2nd Edition, 1972, pp 211-229

माँ सारदा के जीवन व सन्देश की प्रासंगिकता

कुलदीप उप्रेती

अनादि काल से भारतवर्ष ऋषि-मुनियों तथा आत्मानुरागी साधकों की तपोस्थली रहा है। अवतारी सत्ताओं ने यहाँ बारम्बार मानवी रूप में अवतरित होकर पीड़ित जनमानस के कष्टों का निवारण कर समूची मानवता को युगानुकूल दृष्टि एवं दर्शन प्रदान करके कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त किया है। भगवान श्रीकृष्ण की उद्घोषणा के अनुरूप जब-जब आवश्यकता पड़ी, तब-तब ईश्वरीय सत्ता साकार रूप में प्रकट हुई है –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

(श्रीमद्-भगवद्-गीता, ४/७-८)

– अर्थात् "हे अर्जुन ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं साकार रूप में प्रकट होता हूँ। साधु-पुरुषों का उद्धार करने के लिये, पापकर्म करनेवालों का विनाश करने के लिये और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।"

विदेशी आक्रान्ता सुदीर्घ काल तक भारतभूमि का आर्थिक शोषण करते हुए यहाँ की पुरातन सभ्यता व देव-संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने में लगे थे। थका-हारा जन-मानस किंकर्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति में पड़ा परब्रह्म की उपरोक्त उद्घोषणा – ***'सम्भवामि युगे-युगे'*** – पर अटल विश्वास रखते हुए धर्म -संस्थापनार्थ एक और अवतार के लिये आत्म-निवेदनरत था। परमात्मा ने अपनी सन्तानों के हृदय से निकली करुण पुकार सुनी और इस देवभूमि में सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों के पुनर्स्थापन तथा वसुधा में प्रसुप्त मानवीय मूल्यों का सुस्थापन कर मानव में देवत्व को प्रकट करने की मंशा से, पूर्वयुगीन अवतारों – भवानी-शंकर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-श्याम की ही भाँति युगल रूप में पदार्पण किया, जो कालान्तर में माँ श्रीसारदा और परमहंस श्रीरामकृष्ण के रूप में जगत्-प्रसिद्ध हुए। प्रस्तुत आलेख में परम वन्दनीया श्रीमाँ सारदा देवी के आदर्श जीवन, दर्शन तथा अवदान की ओर विहंगावलोकन करने का प्रयास किया गया है।

अपनी आध्यात्मिक शक्तियों से जननी 'श्रीमाँ' के रूप में विख्यात् सारदामणि की भौतिक देह ने २२ दिसम्बर १८५३ ई. को पश्चिम बंगाल के बाँकुड़ा जिले में स्थित जयरामबाटी नामक छोटे से ग्राम में देवी श्री श्यामा-सुन्दरी की कोख से जन्म ग्रहण किया। उनके पिता रामचन्द्र मुखोपाध्याय अत्यन्त पवित्र व धर्मपरायण व्यक्ति थे। वे अपनी उदारता एवं सरल स्वभाव के लिये पूरे क्षेत्र में प्रसिद्ध थे। 'पूत के पाँव पालने में ही नजर आ जाते हैं' – यह कहावत बालिका सारदामणि पर अक्षरश: सत्य सिद्ध हुई। बाल्यावस्था से ही वे अत्यन्त गम्भीर स्वभाव की थीं। अन्य बच्चों की भाँति गुड्डे-गुड़ियों आदि खेलों के प्रति उन्हें लगाव नहीं रहा। बचपन में मिट्टी की माँ काली-लक्ष्मी बनाकर उनके साथ वे प्रेमपूर्वक खेलती रहतीं। देव-आराधना, ध्यान-पूजा में बाल्यास्था से ही उनकी विशेष अभिरुचि दिखाई दी। मिट्टी की देवमूर्तियों को फूल-पत्तियाँ अर्पित कर उनके समक्ष नतमस्तक ध्यानमग्न अवस्था में – ग्रामवासियों ने उन्हें अनेकों बार देखा था। सारदामणि अपने माता-पिता की सबसे ज्येष्ठ सन्तान थीं। आर्थिक दृष्टि से सामान्य परिवार से सम्बन्धित होने के कारण अपने छह छोटे भाई-बहनों की देख-रेख तथा अन्य घरेलू कार्यों का निर्वहण भी उनके द्वारा कुशलतापूर्वक किया जाता था।

पारिवारिक परिस्थितियों के चलते सारदामणि की स्कूली शिक्षा में अल्पता रही। विद्यालयी शिक्षा न होने के बावजूद व्यावहारिक दृष्टि से वे पूर्णतया सुशिक्षित थीं। उन्होंने प्रकृति की पाठशाला तथा भगवान श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में शिक्षा के जिस उच्चतम शिखर पर आरोहण किया, उसके समक्ष बड़े-से-बड़े शिक्षाविद् को भी श्रद्धावनत हो जाना पड़ता है। उनका मस्तिष्क वेद-पुराणों के तत्त्व-दर्शन से सराबोर था, जो उनके व्यावहारिक जीवन में पूर्णरूपेण व्यवहृत हुआ।

शिव और शक्ति को एक-दूसरे से विलग किया जाना सम्भव नहीं है। वे लीलाविहारी खुद ऐसी लीला रचाते हैं, जिससे कि युग-प्रयोजन की पूर्णता के लिये उनका मिलन स्वयमेव हो जाता है। १८५७ ई. में एक बार उसी गाँव में एक विशाल भजन-कीर्तन समारोह का आयोजन था, जिसमें निकटवर्ती ग्रामों के भगवत्-प्रेमी नर-नारी भारी संख्या में उपस्थित हुये थे। भजन-कीर्तन-संध्या में श्यामा-सुन्दरी देवी अपनी चारवर्षीय पुत्री 'सारदा' को गोद में थामे भाव-विभोर थीं। वहीं पर कामारपुकुर से आये गदाधर (श्रीरामकृष्ण) भी भजनानन्द के रसपान में निमग्न थे। उसी कीर्तन में श्यामा-सुन्दरी देवी के निकट बैठी महिला दैव-विधान से सहसा 'सारदा' से पूछ बैठी – "बिटिया ! बता, तू किससे विवाह करेगी?" उसके ऐसा कहने पर बालिका 'सारदा' ने सभा में चारों ओर दृष्टि फिराया और अपने दोनों हाथ उठाकर पास में बैठे निजानन्द में निमग्न गदाधर की ओर संकेत किया।

श्रीरामकृष्ण भी अपनी 'शक्ति' के धरा पर अवतरण की घटना से पूर्णत: विज्ञ थे। पर उन्होंने इस रहस्य को प्रकट

नहीं होने दिया। वे दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में परम तत्त्व की प्राप्ति हेतु कठोर तप में प्रवृत्त थे। जागतिक विषय-भोगों से उन्हें वितृष्णा थी। वे तो ब्रह्मानन्द में डूबे रहते थे, पर लोगों की दृष्टि में उनका यह असाधारण व्यवहार विक्षिप्तता या किसी दु:साध्य रोग का द्योतक था। उनकी ब्राह्मी अवस्था से अनभिज्ञ लोगों ने इसे वायु रोग करार दिया।

यह खबर कामारपुकुर में उनकी माता चन्द्रामणि तक पहुँची। फलत: वे अपने पुत्र को अपने पास रखकर औषधि-उपचार, झाड़-फूँक, और ग्रह-शान्ति का पाठ कराने लगीं। इन प्रयत्नों के बाद भी पुत्र के स्वास्थ्य में विशेष सुधार दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इस सांसारिक उदासीनता को ही रोग का मूल कारण समझकर, इसकी निवृत्ति हेतु गदाधर के विवाह की योजना बनी। माँ चन्द्रमणि ने कन्या की खोज प्रारम्भ कर दिया। लेकिन इस दिशा में किये गये सारे प्रयत्न निष्फल रहे। जब ये सारी बातें गदाधर को ज्ञात हुईं, तो उन्होंने बड़ी सरलता के साथ माँ से कहा – "जयरामबाटी में श्रीरामचन्द्र मुखर्जी के घर जाकर देखो, कन्या मेरे लिये चिह्नित करके वहाँ रखी हुई है।" श्रीरामचन्द्र मुखर्जी के घर पहुँचकर उनकी सारी बातें सत्य सिद्ध हुईं।

जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी।। (रा.मा., १/८१/५) – जगदम्बा पार्वती के इस सत्संकल्प की ही भाँति सारदामणि ने भी अपने आराध्य शिव – 'श्रीरामकृष्ण' का वरण तो शिहड़ ग्राम के भजनोत्सव में ही कर लिया था। और इसके लगभग दो वर्ष बाद उनका यह संकल्प श्रीरामकृष्ण देव से लौकिक रूप में परिणय-सूत्र -बन्धन के रूप में मई १८५९ ई. में सम्पन्न हुआ। विवाह के पश्चात् उनका कैशौर्य तथा यौवन का आरम्भिक काल माता-पिता के संरक्षण में बीता। लोक-रीति के अनुसार विवाहोपरान्त कभी-कभी उनका अपनी ससुराल कामारपुकुर आना-जाना होता था। बाद में यौवनास्था से ठाकुरजी के लीला-संवरण तक अधिकांश समय वे दक्षिणेश्वर में रहीं।

दैवी सत्ता होकर भी उन्होंने लोक-मर्यादाओं की पूर्णरूपेण रक्षा की। तपोमय आध्यात्मिक जीवन से उत्पन्न प्रकाश को वे अति सावधानी से छिपाकर सामान्य परिवार की साधारण गृहिणी की भाँति घरेलू कामकाज में लगी रहतीं। उनमें आत्मगोपन की अद्भुत क्षमता थी। इसीलिये रामकृष्ण देव ने एक बार कहा था – "वह राख से ढँकी हुई बिल्ली है।" अर्थात् जैसे राख से ढँकी बिल्ली शीघ्र दृष्टि में नहीं आती, वैसे ही श्रीमाँ साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आतीं।

वैवाहिक जीवन में वे पूर्णत: पतिपरायणा रहीं – **एकइ धर्म एक व्रत नेमा। कायँ बचन मन पतिपद प्रेमा।।** (रा.मा., ३/५/१०) सती अनुसुइया द्वारा भगवती सीता को उपदिष्ट नारी-धर्म को पुन: स्थापित कर उन्होंने गृहस्थाश्रम को नया गौरव प्रदान किया। उनके दैनिक व्यवहार में कोई ऐसी बात नहीं थी, जो श्रीरामकृष्ण को अप्रिय-अशोभनीय लगे। उन्होंने दाम्पत्य जीवन में रहकर संसार के सम्मुख निष्कामता का एक अनूठा आदर्श प्रस्तुत किया। श्रीरामकृष्ण को साधना के उच्चतम सोपान तक पहुँचाने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। श्रीमाँ की निश्छल सेवा, अनुपम त्याग व पवित्र आचरण ने उनकी भजन-साधना को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। स्वयं श्रीरामकृष्ण ने इसे स्वीकार करते हुए कहा था – "मेरी साधना में सारदामणि का कुछ कम श्रेय नहीं है।"

इस युग में विदेशी संस्कृति के प्रभाव से उत्पन्न जड़वादी भोगैक-सर्वस्वपूर्ण युग के समक्ष दिव्य मातृभाव के आदर्श को पुनर्जीवित करने के लिये ही मानो माँ सारदा का इस धरा पर प्राकट्य हुआ था। वे मातृभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति थीं। उनके समग्र जीवन पर दृष्टिपात करने से मातृत्व-आदर्श के विविध रूप दिखाई पड़ते हैं। वे आदर्श कन्या, माता, गृहिणी, जीवन-संगिनी, संन्यासिनी, संगठक और गुरु थीं।

माँ सारदा के जीवन में हम मानवीय व दैवीय सद्गुणों का विशिष्ट समन्वय पाते हैं। उनके दैनन्दिन क्रिया-कलापों में ये मानवीय गुण स्पष्ट झलकते थे। वे वात्सल्य की प्रतिमूर्ति थीं। उनका यह वात्सल्य एक विशाल वट-वृक्ष के सदृश था, जिसकी सुखद छाया में अनेक परिश्रान्त आत्माओं को सहज शान्ति प्राप्त हुई। अल्प आयु में ही अपनी माता को खो चुके अनेक नवयुवक-युवतियों ने माँ के सम्पर्क में आकर मातृ-प्रेम की सच्ची अनुभूति प्राप्त की। वे भक्तों के लिये भोजन तैयार करतीं, जूठे बर्तन माँजतीं तथा चौका-चूल्हा साफ करती थीं। उनके अलौकिक प्यार से आगन्तुक जन इतने अधिक आत्मीय बन जाते कि माँ से विदा लेते समय उनकी अश्रुधारा स्वयमेव प्रवाहित होने लगती। श्रीमाँ भी उनको तब तक सजल नेत्रों से निहारती रहतीं, जब तक कि वे उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो जाते। यहाँ एक घटना का उल्लेख प्रासंगिक होगा – एक बार एक नवयुवक साधु माँ के यहाँ ठहरे। वे कुछ कार्य वशात् बाहर गये। उनके लौटने तक संध्या हो गई, पर तब तक श्रीमाँ ने भोजन ग्रहण नहीं किया, जब तक कि वे लौटकर नहीं आये। श्रीमाँ पुत्र को भोजन कराये बिना स्वयं भोजन कैसे करतीं? जब साधु ने माँ के इस अलौकिक वात्सल्य को देखा, तो वे भाव-विभोर हो उठे। क्योंकि अपनी वास्तविक माता में भी उन्हें ऐसी सहृदयता दखने को नहीं मिली थी।

उनका यह दिव्य प्रेम सार्वजनीन और धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि की सीमाओं से परे था। उनका प्यार अपने प्रिय सेवक स्वामी सारदानन्द तथा अमजद के लिये एक समान था।[१] पापी-तापी, धर्मी-अधर्मी, धनी-निर्धन, गृहस्थ-संन्यासी, राजा-रंक, सधवा-विधवा, देशी-विदेशी से लेकर युगावतार भगवान

श्रीरामकृष्ण तक को ममतामयी माँ के आँचल की स्नेहिल छाँव में आश्रय मिला।

माँ सारदा शक्तिस्वरूपा थीं। उनके रोम-रोम में परम शक्ति एवं सामर्थ्य भरी थी। उन्होंने अनेक शिष्यों में इस शक्ति का संचरण कर उन्हें मानव से महामानव बना दिया। उनके आशीर्वाद के प्रताप से ही स्वामी विवेकानन्दजी ने समूचे विश्व में भारतीय धर्म-दर्शन की कीर्ति-पताका फहराई। वे अपने गुरुभाइयों से कहा करते थे – "श्रीमाँ जीवन्त दुर्गा हैं।" श्रीरामकृष्ण के कथन से भी इसकी पुष्टि होती है। एक बार उन्होंने सारदा को, जो बाद में स्वामी त्रिगुणातीतानन्द के रूप में प्रसिद्ध हुए, श्रीमाँ के पास कृपा पाने को भेजा। उस समय उन्होंने एक वैष्णव पंक्ति उद्धृत की, जिसका आशय था – "राधा श्रीकृष्ण से भी अधिक शक्तिशालिनी हैं।"

माँ आध्यात्मिक शक्तियों से परिपूर्ण थीं। जो ईश्वरीय शक्ति पूर्व अवतारों में भगवती सीता तथा राधा के रूप में अवतरित हुई थी, उसी दैवी सत्ता का 'श्रीमाँ' सारदामणि के रूप में प्राकट्य हुआ। श्रीरामकृष्ण तो लोगों का परीक्षण करके ही ठोक-बजाकर शिष्य बनाया करते थे। पर श्रीमाँ के मातृहृदय में परम उदारता थी। जिस कारण उन्होंने किसी भी आगन्तुक को अपने द्वार से नहीं लौटाया। वे 'शरणागत-दीनार्त-परित्राण-परायणा' (शरण में आये हुए दीनों की रक्षा में तत्पर) थीं। उन्होंने पापी-तापी, दुष्ट-दुश्चरित्र, चोर-डाकू आदि समाज से तिरस्कृत व्यक्तियों को भी आश्रय दिया। उनके पापों का शमन कर जीवनधारा को सदा के लिए सत्-पथ-गामिनी बना दिया। कुछ घटनायें उल्लेखनीय हैं –

एक बार एक महिला दक्षिणेश्वर आई। पहले वह सनकी प्रवृत्ति की थी। किन्तु बाद में वह मधुर भाव की साधना करने लगी। मधुर भाव में परमात्मा की पति-भाव से साधना की जाती है। उसने एक बार बताया कि वह इसी (मधुर) भाव से श्रीरामकृष्ण की आराधना करती है। श्रीठाकुर उसकी बात को सुनकर बड़े नाराज हुए और जोरों से डाँटना-फटकारना शुरू कर दिया। चारों ओर सनसनी फैल गई। परन्तु माँ ने उसे अपने पास बुलवाया और उसके प्रति इतना प्रेमपूर्ण व्यवहार किया मानो वह उनकी अपनी पुत्री हो। माँ ने उससे कहा, "यदि वे तुम्हारी जाने से अप्रसन्न होते हैं, तो तुम्हें वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं। तुम मेरे पास आओ।"

१. अमजद नामक एक डकैत मजदूर ने माँ के घर की दीवार बनाई थी। एक दिन माँ ने उसे अपने बरामदे में खाना खिलाया। नलिनी दीदी आँगन में खड़ी हो दूर-दूर से फेंककर परोस रही थी। यह देख माँ कह उठीं, "वैसे देने से क्या कोई सन्तुष्ट हो सकता है? यदि तू नहीं दे सकती तो ला मैं दे देती हूँ।" खाना हो जाने के बाद माँ ने उस जगह को स्वयं ही धो दिया। इस पर नलिनी दीदी – "ओ बूआ, तुम्हारी जात गई" – आदि कहकर बड़ी आपत्ति व्यक्त करने लगी। माँ बोलीं – "जैसे शरत् (सारदानन्द) मेरा बेटा है, वैसे ही अमजद भी।"

एक और स्त्री नौबत में माँ के पास बैठने और उनके सत्संग का लाभ उठाने आती थी। प्रारम्भ में उसका जीवन अच्छा नहीं था। श्रीरामकृष्ण ने माँ से कहा कि तुम उसका साथ मत करो। परन्तु वह स्त्री शान्ति तथा सांत्वना पाने को माँ के पास आती रही। पुत्री चाहे कितनी ही बुरी क्यों न हो, माँ उसे अपने पास आने से भला कैसे रोकतीं? माँ ने श्रीरामकृष्ण के शब्दों पर ध्यान नहीं दिया। वह स्त्री नौबत में आती ही रही। ठाकुर ने सब देखा, परन्तु बाद में किसी तरह की आपत्ति नहीं की। कदाचित् उन्होंने श्रीमाँ के व्यवहार और रूख को समझ लिया। माँ के जीवन में ऐसी एक-दो नहीं सहस्रों घटनाएँ घटित हुईं। इन्हीं दैवीय गुणों के कारण वे भविष्य में संघमाता एवं विश्वमाता के रूप में जगद्वन्द्य हुईं।

श्रीमाँ सारदा प्राचीन परम्परा में पली-बढ़ी होने के बावजूद प्रगतिशील विचारधारा की पोषक थीं। उनकी दृष्टि में पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण आत्मघाती था। 'वसुवैध कुटुम्बकम्' की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे अन्य देशों की संस्कृति व सभ्यता के उपयोगी सार अंश को ग्रहण करने की हिमायती रहीं। जब कु. मार्गरेट नोबेल (भगिनी निवेदिता) इंग्लैंड से भारत आयी, तो विवेकानन्दजी चिन्तित थे कि उन्हें हिन्दू समाज के बीच में कैसे रखा जाये? पर माँ ने स्वयं ही निवेदिता को अपने कमरे में रहने का स्थान दिया। श्रीमाँ का यह व्यवहार उनकी प्रगतिशील विचारधारा का द्योतक है। सामाजिक तथा राष्ट्रीय उन्नयन के लिये वे नारी-शिक्षा को अपरिहार्य मानती थीं। भगिनी निवेदिता को उन्होंने इस कार्य में सतत प्रोत्साहन दिया। उन्हीं के सत्प्रयासों से १३ नवम्बर १८९८ को, कालीपूजा के दिन 'रामकृष्ण बालिका विद्यालय' (अब 'निवेदिता बालिका विद्यालय') की स्थापना का सुयोग बना। उसका विधिवत् उद्घाटन श्रीमाँ ने अनुष्ठान-पूजा द्वारा परम उत्साहपूर्वक सम्पन्न किया। इस प्रकार माँ ने भारत में इस विद्यापीठ का श्रीगणेश कर नारी-शिक्षा के बाधित पड़े चक्र को युगों-युगों के लिये पुन: गतिशील बना दिया।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में माँ जयरामबाटी गयीं, और वहाँ मलेरिया से पीड़ित रहने लगी। जब वे कोलकाता लौटीं, तो शारीरिक रूप से अत्यन्त दुर्बल हो गयी थीं। इस शारीरिक रुग्णता के बावजूद उनके व्यवहार में अत्यन्त मृदुता तथा मुखमण्डल पर दिव्य कान्ति झलकती थी। माँ की अन्तिम लीला को समीप जानकर एक स्त्री-भक्त अत्यन्त अशान्त अवस्था में उनके समीप पहुँची। इस पर श्रीमाँ ने उसको धीरज बँधाते हुए कहा – "बेटी! तुम भयभीत क्यों होती हो? तुमने ठाकुर का दर्शन किया है। सारे संसार को अपना बनाना सीखो। कोई पराया नहीं है। सभी अपने हैं। सारा संसार तुम्हारा ही है।" श्रीमाँ के कण्ठ से निकला यह अन्तिम उपदेश था। इसके पश्चात् वे ईश्वरीय चिन्तन तथा

परमानन्द में निमग्न होकर २१ जुलाई, १९२० को आधी रात के समय महासमाधि में लीन हो गईं।

यद्यपि माँ की अनश्वर आत्मा नश्वर देह से बाहर आ गयी, परन्तु उनकी शिक्षाएँ – दिव्य उपदेश चिर काल तक समग्र मानवता के पथ को आलोकित करते रहेंगे। प्रच्छन्न भोगवाद के इस दौर में माँ के विचारों की उपादेयता और अधिक बढ़ गयी है। चार्वाक दर्शन पाश्चात्य संस्कृति से ताल-मेल कर अपने आधुनिक स्वरूप – "खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ" – में किसी भी सीमा तक जाने को तैयार है। मानव घोर जड़वादी होता जा रहा है। वह धन-दौलत, सौन्दर्य-यौवन, पद-प्रतिष्ठा को ही अपनी मंजिल समझकर अन्धी दौड़ में शामिल है। नररत्नों की खान नारी भी स्वतंत्रता के नाम पर स्वच्छन्दता की रपटीली राह पर चल पड़ी है। मॉडर्न लेडी कहलाने की खातिर अब उसे शाश्वत मूल्यों, पुरातन परम्पराओं को तिलांजलि देने में कोई गुरेज नहीं है। मूल्यों में आये इस बदलाव से भारतीय नारी के मातृत्व, वात्सल्य, करुणा आदि सद्गुणों में निरन्तर ह्रास आ रहा है। तथाकथित आधुनिक माताएँ नवजात शिशुओं तक को उसके स्तनपान के नैसर्गिक अधिकार से वंचित कर रही हैं। आज आदर्श माताओं की संख्या में निरन्तर कमी होती जा रही है, जिसके दूरगामी परिणाम समाज के लिये घातक सिद्ध होंगे।

नारी वर्ग को स्वच्छन्दतारहित श्रेय पथ पर लाने के लिये सार्थक प्रयास किया जाना समय की प्रबल माँग है। धुरी को ठीक करने से ही पहियों को गतिशील बनाने के प्रयत्न सार्थक होते हैं। अन्यथा सारी तीलियाँ बिखरकर बेकार हो जाती हैं और पहिये के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लग जाता है। नारी वर्ग भी पूरे समाज की धुरी के सदृश है। उसकी स्नेहिल डोर में समाज के सारे अवयव पिरोये रहते हैं। इसमें टुटन-संकुचन आने से समाज अभिशप्त हो जाता है। नारी की भूमिका सन्तान-निर्माण में ही नहीं, अपितु पूरे परिवार व समाज के निर्माण में पुरुष की तुलना में सहस्र गुना अधिक मानी जाती है। प्रत्येक पुरुष की सफलता के पीछे किसी-न-किसी नारी का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इतिहास ऐसे दृष्टान्तों से भरा पड़ा है। नारी ने माँ, बहन, पत्नी, पुत्री आदि विविध रूपों में पुरुष को दिशा दी है। प्रसिद्ध साहित्यकार व नोबेल पुरस्कार विजेता रोमाँ-रोला की उपलब्धियों में उनकी बहन का त्याग निहित था। मेवाड़ के राजकुमार उदयसिंह के व्यक्तित्व का निर्माण पन्ना धाय के हाथों हुआ। शाहजहाँ को विलासी प्रवृत्तियों से ईश्वराभिमुख करने का श्रेय उनकी पुत्री जहाँआरा को जाता है। कालीदास तथा तुलसीदास को महाकवि के रूप में विश्वप्रसिद्ध बनाने में उनकी जीवन-संगिनी विद्योत्तमा तथा रत्नावली का उल्लेखनीय योगदान था और जीजाबाई ने विपरीत परिस्थितियों में शिवाजी को स्वातंत्र्य वीर के रूप में विकसित कर सिद्ध कर दिया कि नारी पुरुष को महापुरुष बनाने में पूर्णरूपेण सक्षम है। भारतवर्ष इन्हीं देवियों के उत्तम चरित्र, त्याग व बलिदान के बल पर ही अतीत में 'सोने की चिड़िया' के रूप में गौरवान्वित हुआ और अनेक नररत्नों ने पूरे विश्व में ज्ञान का आलोक फैलाकर देश को जगद्गुरु के रूप में प्रतिष्ठित कराया।

नि:सन्देह जटिल परिस्थितियाँ सामने हैं। भोगवाद के प्रचण्ड अंधड़ ने मानववादर्श के नभ को ऐसे ढँक लिया है कि इस सघन तिमिर में राह चलना दुष्कर हो गया है। इस घटाटोप की निवृत्ति का मार्ग हमें श्रीमाँ सारदा के उद्बोधनों में प्राप्त हो जाता है। चूँकि मातृभाव का आदर्श पुनर्स्थापित करने के उद्देश्य से ही माँ का इस जगत् में अवतरण हुआ था, अत: उनके जीवन-दर्शन में नारी वर्ग को वर्तमान दुर्दशा से उबारकर उचित दिशा में गतिशील करने की पर्याप्त ऊर्जा सन्निहित है। उनके श्रीमुख से नि:सृत वाणी-प्रवाह शाश्वत और नित नवीन है। उन्होंने ज्ञान की जो जाह्नवी प्रवाहित की, वह सतत प्रवहमान है। अनेकों पापी-तापी इनमें गोते लगाकर मुक्त हुए हैं और आगे भी श्रद्धा-भाव से इसमें डुबकी लगाने-वालों के त्रितापों का सहजरूपेण शमन करने की सामर्थ्य भी इसमें भरी पड़ी है। उनके बताये हुए मार्ग पर चलने से मानव को उसकी खोयी हुयी प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो सकेगी।

माँ ने चरित्र-गठन, सेवा, त्याग, संयम, सद्भाव तथा भगवद्-भजन पर जोर दिया। उनकी वाणी में सारे सद्ग्रन्थों का सार प्राप्त है। उन्होंने कामना को जन्म-मृत्यु का कारण बताया। उनके मतानुसार मानव-सेवा ही माधव-सेवा है। शिव-भाव से जीव-सेवा करनी चाहिये। उन्होंने कहा है – "किसी का दोष मत देखना, दोष देखना हो तो अपना ही देखना, इसी से ही सच्ची शान्ति प्राप्त होगी। संसार को अपना बना लेना सीखो, कोई पराया नहीं है, सारी दुनिया अपनी है। प्रत्येक व्यक्ति को कर्म करना चाहिये। कर्म के द्वारा कर्मपाश कटता है और अनासक्ति की भावना उत्पन्न होती है। कोई भी वस्तु कितनी ही छोटी क्यों न हो उसकी अवमानना नहीं करनी चाहिये। यदि तुम किसी वस्तु का सम्मान करोगे, तो तुम्हें भी उससे सम्मान मिलेगा। छोटे-से-छोटा काम भी ससम्मान करना चाहिये।" स्त्रियों से उन्होंने कहा था, "देखो, स्त्री का आभूषण है लज्जा ! फूल को देव-प्रतिमा के चरणों पर चढ़ाने से वह धन्य हो जाता है। अन्यथा उसका पौधे पर ही मुरझा जाना अच्छा है। जब मैं किसी को फूल तोड़ते और उसे सूँघकर यह कहते हुए पाती हूँ – 'वाह, क्या सुगन्ध है' – तो मुझे बड़ी पीड़ा होती है।"

माँ की महत्ता का सर्वश्रेष्ठ विवरण हमें त्रिकालद्रष्टा संन्यासी स्वामी विवेकानन्द द्वारा अमेरिका से अपने गुरुभाई स्वामी शिवानन्दजी को प्रेषित पत्र में प्राप्त होता है। स्वामीजी

लिखते हैं, "माँ के जीवन का विलक्षण महत्त्व तुम लोग अभी नहीं समझ सके हो – तुममें से एक भी नहीं, परन्तु धीरे-धीरे जान सकोगे। शक्ति के बिना संसार का उद्धार नहीं हो सकता। क्या कारण है कि संसार के सब देशों में हमारा देश ही अधिक बलहीन और पिछड़ा हुआ है? इसका कारण यही है कि यहाँ शक्ति का निरादर होता है। उस अनुपम शक्ति को भारत में पुन: जाग्रत करने के लिये ही माँ का जन्म हुआ है और उन्हें केन्द्र बनाकर फिर से गार्गी और मैत्रेयी का जन्म संसार में होगा। भाई, अभी तुम बहुत कम समझते हो, पर धीरे-धीरे तुम सब जान जाओगे ....। शक्ति की कृपा के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता दिन-पर-दिन सब बातें मेरी समझ में आ रही हैं। मेरी अन्तर्दृष्टि का धीरे-धीरे विकास हो रहा है। मेरे लिये माँ की कृपा पिता की कृपा से लाखों गुना अधिक मूल्यवान है। माँ की कृपा, माँ का आशीष मेरे लिये सर्वश्रेष्ठ है। यदि माँ कि आज्ञा होगी तो उनके भूत कुछ भी काम कर सकते हैं। अमेरिका प्रस्थान से पहले मैंने माँ को लिखा था कि वे मुझे आशीर्वाद दें। उनका आशीर्वाद आया और एक ही छलांग में मैंने समुद्र पार कर लिया।"

यदि समुद्र दावात, हिमालय पर्वत स्याही, पारिजात वृक्ष की शाखा लेखनी, पृथ्वी कागज हो और स्वयं देवी सरस्वती चिर काल तक लिखती रहें, तो भी माँ के लीला-अवदानों के प्रकटीकरण में ये सब पूर्णरूपेण समर्थ नहीं हो सकते। ज्ञानदायिनी, भक्तिदायिनी, शक्तिदायिनी माँ सारदा के श्रीचरणों में कोटिश: नमन के साथ यही विनय है कि वे त्रसित मानवता पर कृपावृष्टि करके नर में नारायण, तथा नारी में नारायणी स्वरूप के प्राकट्य की शक्ति प्रदान करें।

माँ सारदा के जीवन का वैशिष्ट्य

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

(श्रीमाँ सारदा देवी की १५०वीं जयन्ती के अवसर पर १५ मार्च २००४ ई. को जयपुर के रामकृष्ण मिशन में एक शिविर का आयोजन किया गया था, उसमें प्रदत्त इस प्रेरक तथा ललित व्याख्यान को लिपिबद्ध किया है उसी आश्रम के स्वामी एकनिष्ठानन्द जी ने। – सं.)

माँ के जीवन की प्रमुख घटनाओं पर यदि हम विचार करें तो बहुत-सी बातें हमारे सामने उभरकर आती हैं। माँ का जो सुदीर्घ जीवन था, विभिन्न परिस्थितियों में उनकी जैसी-जैसी प्रतिक्रियायें थीं, जैसा आचरण था, उनके जीवन के विभिन्न प्रसंग हैं, यदि उन सबकी एक-एक कर व्याख्या की जाय, तो वक्तव्य बहुत विस्तृत हो जायेगा। हमारे संस्कृत ग्रन्थों में जो कठिन ग्रन्थ होते हैं, जिनका तत्त्व समझना मुश्किल होता है, विद्वान् लोग उनको सरल करके, उनके रहस्यों को खोल करके, सामान्य व्यक्ति के लिए सहज-बोध्य रूप में प्रस्तुत करते हैं। उस सुदीर्घ व्याख्या में एक-एक बात समझायी जाती है, एक-एक रहस्य खोलकर कहा जाता है, एक-एक सिद्धान्त की व्याख्या की जाती है और उनका प्रयोग बताया जाता है। उस कृति को हम लोग भाष्य कहते हैं।

माँ का जीवन मानो श्रीरामकृष्ण के जीवन पर एक भाष्य है, क्योंकि श्रीरामकृष्ण की बातों को पढ़कर समझना सरल नहीं हैं। वे अपनी असाधारण आध्यात्मिक ऊँचाइयों से हमें श्रद्धावनत कर देते हैं। उनके सामने व्यक्ति स्तब्ध हो जाता है, चकित हो जाता है। ऐसे महापुरुष को पूरी तरह समझ पाना कठिन है। ठाकुर को समझने के लिये यदि कभी माँ के जीवन पर दृष्टिपात कर लिया जाय, तो लगता है कि माँ का जीवन मानो श्रीरामकृष्ण को समझाने के लिये ही है।

श्रीरामकृष्ण तो हिमालय के समान हैं। हिमालय बहुत ऊँचा है, बहुत पवित्र है। हमारी भारतीय परम्परा में उसको देवतात्मा कहते हैं। बहुआयामी दृष्टि से देखें तो वे देवाधिदेव शिव के ससुर हैं। बड़े महिमा-मण्डित हैं। कालीदास उन्हें देवतात्मा घोषित करते हैं। हिमालय भारत का रक्षक है, प्रहरी है। अनेकानेक जीवनदायिनी नदियों को उत्पन्न करने वाला स्रोत है, लेकिन बहुत दुर्गम है। उस पर आरोहण करना सबके लिये सम्भव नहीं हैं। परन्तु उसी हिमालय से सारी पवित्रता लेकर जो गंगा नदी बहकर नीचे के मैदानों में आती है, वह जलचरों को पवित्र करती है। जो कार्य हिमालय नहीं कर पाते, उस कार्य को ऊँचे-नीचे दुर्गम प्रदेशों से होकर हिमालय की गोद से बहनेवाली गंगा सम्पन्न करती है। एक-से-एक विकट परिस्थितियों, एक-से-एक झंझावातों, एक-से-एक विषमताओं और ऐसी ही न जाने कितने ही पहाड़ों, ऊँचाइयों को पार करती हुई, चट्टानों को तोड़ती हुई, खाइयों में गिरती हुई गंगा की जो धारा बहती है, वह सम्पूर्ण भारतवर्ष को आप्लावित करती है। वह जैसे पतित-पावनी है, वैसे ही माँ श्री सारदा देवी का जीवन भी है। और यह माँ की बहुत बड़ी विशेषता है।

भारतीय संस्कृति में नारीत्व का आदर्श उसका स्वरूप सहधर्मिणी और जननी का है। भारत में नारी के आदर्श का

जो स्वरूप है, वह प्रेमिका का नहीं है। प्रेमिका पाश्चात्य आदर्श है। लेकिन भारतीय नारीत्व का जो आदर्श है, वह पत्नी के धर्मपत्नी रूप को, सहधर्मिणी रूप को और विशेष रूप से उसके मातृत्व को रेखांकित करता है। श्रीरामकृष्ण की उपलब्धियों में माँ का प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों दृष्टि से बहुत सहयोग है। श्रीरामकृष्ण ने स्वयं कई बार इसकी स्वीकृति अपनी वाणी से दी है। माँ ने उनका जो साथ दिया है, साहचर्य दिया है, इसके लिये श्रीरामकृष्ण उनके प्रति निसंकोच अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

जितने भी अवतार होते हैं, उन सभी के जीवन के दो पक्ष होते हैं – एक दैवी और दूसरा मानवीय। इन सभी अवतारों का जो मानवीय पक्ष है, वह मनुष्य तथा मानवता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। 'अवतरण' एक संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ है – अवतार, नीचे उतरना। प्रभु धर्म के संस्थापन के लिये, भक्तों पर कृपा करने के लिये, भक्तों की रक्षा के लिये, ऐसे अनेक लोकोपकारी प्रयोजनों के लिये इस संसार में अवतरित होते हैं। हमारे यहाँ दशावतार का सिद्धान्त है। मत्स्यावतार से शुरू करके अभी बुद्ध तक पहुँचे हैं। मानव के विकास की विभिन्न परिस्थितियों में जब-जब जैसी-जैसी स्थितियाँ आयी हैं, उन स्थितियों में मानवता की रक्षा और पथ-प्रदर्शन के लिये हम परमात्मा का प्राकट्य मानते हैं। इसी प्राकट्य को हम अवतार मानते हैं। क्योंकि प्रभु अपने दिव्य स्तर से नीचे उतर कर सामान्य मनुष्य के रूप में अवतरित होते हैं।

यदि हम केवल उनका दैवी पक्ष रेखांकित करते रहें, तो हम उनसे कुछ भी नहीं सीख सकते। क्योंकि तब हम कह सकते हैं – "हाँ भाई, वे ऐसा कर सकते हैं। वे तो भगवान हैं। हमारी क्या बराबरी ! वे तो सब कुछ कर सकते हैं। यह जरूरी थोड़े ही है कि हम भी वैसा ही कर सकें।" तब हम कुछ नहीं सीख पायेंगे। इसीलिये ईश्वर नरलीला करते हैं। वे मनुष्य के समान जीवन व्यतीत करते हैं। वैसे ही आधि-व्याधि का सामना करते हैं। वैसे ही दुख भोगते हैं। वैसे ही मानसिक कष्ट उठाते हैं। उनके जीवन की परिस्थितियाँ भी वैसी ही होती हैं, जैसी हमारे और आपके जीवन की होती हैं। उन परिस्थितियों में वे जैसा व्यवहार करते हैं, वही व्यवहार मनुजता और मानवता के लिये आदर्श बनता है।

यह मनुजता बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। किस प्रकार का व्यवहार, किस प्रकार का आदर्श, किस प्रकार का आचरण किसी विशिष्ट अवतार ने अपनी जीवनकाल में किया। ठाकुर किस प्रकार के अवतार हैं और उनकी कार्य-करणात्मिका शक्ति, जिसे हम दर्शन की भाषा में स्वरूप-शक्ति कहते हैं, माया कहते हैं, प्रकृति कहते हैं (और भी बहुत सारे नाम हैं), वह हमेशा उनकी अर्धांगिनी के रूप में अवतीर्ण होती है। हमारे यहाँ ऐसी परिकल्पना है – यथा शिव के साथ पार्वती, राम के साथ सीता, कृष्ण के साथ राधिका, विष्णु के साथ लक्ष्मी और ठाकुर के साथ माँ ने अवतार लिया। इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या यहाँ शायद आवश्यक नहीं है।

अब इस मानवीय रूप में माँ ने क्या किया? जो ज्ञान-वैराग्य का तत्त्व श्रीरामकृष्ण के उपदेशों में मिलता है और जिसका उन्होंने अपने जीवन में आचरण किया; वही त्याग-वैराग्य माँ के जीवन में भी, केवल उतना ही नहीं, बल्कि उससे भी अधिक दिखाई देता है। और उससे अधिक इसीलिये दिखाई देता है, क्योंकि ठाकुर का जीवन शुद्ध संन्यास का जीवन है। वे विशिष्ट स्तर पर रहते हैं। संसार के व्यवहार से उनका बहुत ज्यादा सम्बन्ध नहीं है। सामान्य आगन्तुकों के साथ भी वे उपदेशक गुरु के रूप में ही व्यवहार करते हैं, जितना आवश्यक है उतना ही व्यवहार करते हैं, वे गृहस्थ नहीं है।

लेकिन माँ कैसी हैं। माँ गृहिणी हैं और एक सामान्य गृहिणी के समान जीवन बिताती हैं। सामान्य गृहिणी के जीवन में जितनी समस्यायें और कठिन कार्य होते हैं, वे सब-के-सब माँ के जीवन में भी हैं। उन्होंने इन कार्यों को जिस ढंग से सम्पन्न किया – उनकी वह पद्धति हमारे जीवन के सामने एक उच्चतम आदर्श है।

आजकल नारी-जागरण और नारी-मुक्ति के रूप में जो आन्दोलन चल रहे हैं, इनमें Individuality (व्यक्तित्व) और Identity (वैशिष्ट्य) – ये दो बातें उभर कर आती हैं। अर्थात् नारी का एक व्यक्तिगत स्वतंत्र व्यक्तित्व होना चाहिये। हमारे यहाँ, नारी आजकल अपने सभी दायित्वों को बोझ समझती है और वह उन्हें स्वतंत्र व्यक्तित्व के बलिवेदी पर चढ़ाने को तैयार है। अब वह पुरुषों के समान आचरण करने को प्रस्तुत है। पुरुष भी अब इसे स्वीकार करने को तैयार हैं। इस समय नारियाँ बड़ी दिशाहीन हो रही हैं।

इलाहाबाद में एक बार मेरे व्याख्यान का विषय था – "आधुनिक जीवन में माँ का आदर्श"। मुझे ऐसा लगता है कि इस समय माँ के आदर्श को समझना-परखना, जीवन के लिये बहुत अधिक आवश्यक है। माँ जैसी स्वतंत्र व्यक्तित्व की महिलायें बहुत कम हैं। लेकिन माँ में हम जैसी करुणा देखते हैं, माँ में हम लक्ष्य के प्रति जैसा समर्पण देखते हैं, वैसे ही उनके जीवन में विभिन्न भीषण परिस्थितियों में गरिमा और स्वाभिमान भी दृष्टिगोचर होता है।

मैं दो या तीन घटनाओं की ओर संकेत करूँगी। माँ जब दक्षिणेश्वर आयीं, तो किसी ने उनको वहाँ आने के लिये नहीं कहा था। यदि वे चाहतीं, तो जीवन भर आराम से वहीं रह सकती थीं – कभी ससुराल में, कभी मायके में; परन्तु जब उन्होंने श्रीरामकृष्ण की उन्मत्तता के बारे में सुना, तो उनका

दायित्व-बोध ही उन्हें ठाकुर के पास जाने को प्रेरित करता रहा। उनका यह निर्णय भी स्वतंत्र निर्णय था। यदि ध्यान से देखें, तो पिता ने यह नहीं कहा था कि जाओ अपने पति की सेवा करो। यह माँ का अपना निर्णय था। यहाँ तक कि उस जमाने में सामान्य रूप से कोई बालिका पिता के सामने अपने पति की चर्चा तक नहीं करती थी। उस समय माँ ने बड़ी चतुराई से गंगा-स्नान के बहाने ठाकुर के पास जाने का अपना कर्तव्य निर्धारित किया। यह उनकी कर्तव्य-परायणता के साथ-साथ उनकी स्वतंत्र संकल्प-शक्ति का भी द्योतक है।

फिर दक्षिणेश्वर पहुँचकर सीधे श्रीरामकृष्ण के पास उनके कमरे में जाते ही, वे अपने कमरे में ही उनके रहने का प्रबन्ध करते हैं। उनके आने के कुछ दिनों बाद श्रीरामकृष्ण ने उनसे एक प्रश्न किया और उस प्रश्न का माँ ने जो उत्तर दिया है, मैं तो उस पर विचार करके हृदय से गद्‌गद हो जाती हूँ। मुझे माँ के ऊपर बड़ा अभिमान होता है। ठाकुर ने माँ से प्रश्न किया था – "क्या तुम मुझे संसार में खींचने आई हो?" माँ ठाकुर की पत्नी थीं। पत्नी के अपने कुछ दायित्व होते हैं, तो कुछ अधिकार भी होते हैं। वे ठाकुर से यह बात कह सकती थीं, परन्तु कितनी गरिमा के साथ उन्होंने उत्तर दिया – "मैं क्यों खींचूँगी, मैं तो आपके द्वारा चुने हुये मार्ग पर आपकी सहायता करने के लिये आयी हूँ।"

आप इस वाक्य पर विचार करें। माँ ने यह नहीं कहा कि जैसी आपकी इच्छा, या जो आपका आदेश होगा; उन्होंने ऐसा कोई जवाब नहीं दिया कि आप कहेंगे तो संसार में रहेंगे या आप कहेंगे तो अध्यात्म में रहेंगे। 'सेवा' शब्द का भी प्रयोग माँ ने वहाँ नहीं किया है। एक नारी की अपने पति के जीवन में सहधर्मिणी के रूप में जो गरिमामय भूमिका होती है, उसका माँ ने निर्वाह किया। इसलिये माँ का जीवन बहुत प्रिय लगता है। इस बात को ठाकुर ने भी स्वीकार किया है कि यदि माँ ऐसी न होती, तो कह नहीं सकता कि मैं संसार में कितनी दूर आगे बढ़ जाता। जैसे श्री सीताजी ने बनवास में श्रीराम का साथ दिया था, वैसे ही माँ ने ठाकुर का साथ दिया। धर्माचरण के लिये नारी का जो धर्मपत्नी का रूप है, माँ ने उसका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है।

माँ ने भी एक बार बड़ा सुन्दर प्रश्न श्रीरामकृष्ण से किया था – "तुम मुझे क्या समझते हो?" और ठाकुर ने भी ठीक वैसा ही उत्तर दिया था – "जो माँ इस समय नौबतखाने में हैं, जिन्होंने मुझे जन्म दिया है, जो प्रतिमा के रूप में मन्दिर में प्रतिष्ठित हैं, मैं तुम्हें उसी रूप में देखता हूँ।"

यह एक बड़ा अद्‌भुत दाम्पत्य सम्बन्ध है! और आज उसके वंशवृक्ष से उद्‌भूत सैकड़ों शाखायें दिग्-दिगन्त में फैली हुई हैं। यह एक अद्‌भुत घटना है! परन्तु इस अद्‌भुत घटना को सम्भव बनाने में जितना श्रेय श्रीरामकृष्ण का है, उससे बहुत अधिक श्रेय श्रीमाँ का है।

वे अपने समस्त दायित्व का पालन करती हैं। ध्यान में रखना होगा कि माँ ठाकुर की प्रथम शिष्या हैं। ठाकुर ने माँ को क्रमशः व्यवहार में पूर्ण रूप से दीक्षित किया है। माँ का दैवी रूप तो है ही, लेकिन मुझे लगता है कि इस अवतार में ठाकुर ने उसका उन्मेष माँ को समाधियोग की भूमिकाओं में आरोहण कराकर कराया है और अन्त में षोड़शी-पूजन के द्वारा उनके सामर्थ्य की घोषणा की है। आप स्वयं सोचें – क्या किसी सामान्य स्त्री में ऐसी क्षमता हो सकती थी कि वह श्रीरामकृष्ण देव जैसे उच्च साधक की साधना के फल को स्वीकार करे, उसे आत्मसात् करे और उस पर कोई फर्क न पड़े! इस प्रकार अपनी दिव्यता के प्रति सजग रहते हुए और अपनी आध्यात्मिक साधना करते हुए भी उन्होंने एक अति सहज-सामान्य गृहिणी का जीवन बिताया और सबको उपदेश दिया कि वह एक सामान्य गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी किस प्रकार अपनी आध्यात्मिक उन्नति तथा आध्यात्मिक उद्देश्य के प्रति प्रयत्नशील हो सकता है और किस प्रकार चेतना की अत्यन्त उदात्त भूमि में आरोहण कर सकता है।

अन्त में – माँ की करुणा। वे करुणामयी जगदम्बा हैं। उनकी यह करुणा अनेकों बार व्यक्त हुई है, केवल एक दृष्टान्त प्रस्तुत करती हूँ। ठाकुर सबको दीक्षा नहीं देते थे। ब्रह्मविद्या एक बड़ी विशिष्ट विद्या है। इसमें सबको प्रवेश नहीं दिया जाता है। इसमें पात्र-अपात्र का बड़ा विचार होता है। ठाकुर तो बहुत ठोक-बजाकर स्वीकार करते थे, पर माँ ने कभी विचार नहीं किया, क्योंकि इतनी सहिष्णुता और क्षमता माँ में ही होती है कि वह संसार की मलिनता का प्रक्षालन कर सके। यह धैर्य पिता में नहीं नहीं होता। इसीलिये माँ ने कभी पात्र-अपात्र आदि की योग्यता का विचार नहीं किया। अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल पर उन्होंने बड़े अपात्रों को भी दीक्षा दी और अपने आध्यात्मिक ऐश्वर्य के द्वारा अनेक पिछड़े जनों का उद्धार किया। अपने जीवन के अन्तिम काल में, जब माँ बहुत कृश हो गयी थीं, अस्वस्थ हो गई थीं, उस समय भी वे रात-रात जागकर जप किया करती थीं, जो उनके स्वास्थ्य के लिये बड़ा हानिप्रद था। सारदानन्दजी बारम्बार कहते कि आप क्यों इतना कष्ट कर रही हैं? पर माँ उत्तर देतीं –"जिनका भार लिया है, वे लोग पता नहीं कितना करते हैं या नहीं करते, पर मुझे तो उनके लिये करना ही होगा।" यह हैं माँ की करुणा। यह ईश्वरत्व का लक्षण है। इतना करुणाशील केवल ईश्वर ही हो सकता है। पृथ्वी पर इतने सारे कार्यों के बीच, केवल माँ ही अपनी सन्तानों के प्रति इतनी करुणार्द्र होती है। कोई दूसरा इतना करुणामय नहीं हो सकता। और जो ईश्वर भी हो और माँ भी हो, उसकी करुणा की तुलना क्या हो सकती है! कभी नहीं। ❑❑❑

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

९-१२-१९२१

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।। १८/५७

संन्यस्य का अर्थ है समर्पणपूर्वक। किस प्रकार का समर्पण करना होगा, गीता के इस श्लोक में भगवान यही समझा रहे हैं। **सर्वकर्माणि** – जिस किसी भी लौकिक या वैदिक कर्म का अनुष्ठान करोगे (नवें अध्याय में – **यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्, यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्** – "हे अर्जुन ! तुम जो कुछ भी करो, जो कुछ भी खाओ, जो भी यज्ञ-दान या तप करो, वह सब मुझको अर्पित करके करो।" जो कहा है, वह सारा ही **चेतसा** – विवेक-बुद्धि के द्वारा, **मयि** – ईश्वर में, **संन्यस्य** – समर्पण करके, कर्मफल की सिद्धि या असिद्धि की ओर ध्यान न देकर, **मत्परः** – मैं वासुदेव जगदीश्वर रूपी जो श्रेष्ठ सर्वाश्रय अथवा पुरुषार्थ हूँ, उसमें बुद्धि अर्पित करो और **बुद्धियोग** – समाहित बुद्धियुक्त होकर (**व्यवसायात्मिका बुद्ध्या योगम् उपाश्रित्य**) चित्त को निरन्तर भगवद्भाव या प्रेम में परिप्लुत करो। "मैं तुम्हारा ही हूँ।" – जैसा आपने लिखा है, प्रभु का कार्य भृत्य के समान या उनके यंत्र के समान करना होगा। **मयि** – का अर्थ प्रकृति नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है। फिर उसका कर्म कैसा? यहाँ पर भगवान 'अहं', 'मम' 'मयि' आदि शब्दों का उपयोग स्वयं के लिए कर रहे हैं। और जगदीश्वर सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं। यहाँ पर वे अज्ञान या अहंकार दूर करने की बात कह रहे हैं, क्योंकि परवर्ती श्लोक में ही वे कहते हैं – **मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि** – "मुझमें किये हुए चित्तवाला तू सारी कठिनाइयों से पार हो जायेगा।" फिर दूसरी और कहते हैं – **अथ चेत् त्वम् अहंकारात् न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि** – यदि अहंकार के कारण मेरी बात पर ध्यान न देगा, तो तू विनाश को प्राप्त होगा।" (१८/५८)

गीता का आदि से अन्त तक पारायण करने के बाद हम देखते हैं कि अर्जुन मोहग्रस्त होकर स्वधर्म की उपेक्षा करते हुए संन्यासधर्म में आस्थावान हो गए हैं और सन्दिग्ध चित्त हुए बन्धु-बान्धव को मारने में पाप की आशंका कर रहे हैं, इसीलिए भगवान शरण लेने रूपी कर्म का विधानकर सर्वधर्म-परित्याग करने को कहते हैं। अतः सर्व-कर्म-संन्यास अर्थ लगाना उचित नहीं, परन्तु आपकी व्याख्या से भाव में कोई बाधा या गड़बड़ी नहीं होती।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु – इत्यादि उक्ति तैत्तिरीय उपनिषद, ब्रह्मानन्द वल्ली के दूसरे अध्याय में मिलेगी और उसकी व्याख्या शांकर भाष्य में मिलेगी। इसलिए उसे मैंने यहाँ नहीं लिखा।

६-५-१९२२

मिहिजाम में एक ब्रह्मचर्य विद्यालय खोलने की व्यवस्था हो रही है, यह जानकर आनन्दित हुआ। इस प्रकार के उद्यम जितने भी हों उतना ही मंगल है। सुव्यवस्थित ढंग से प्रयास करने पर सफलता न मिलने का कोई कारण नहीं। हम लोग कर्म करते जाएँगे; फल देना, न देना भगवान के हाथ में है।

यह जानकर आनन्दित हुआ कि तुम ग्रन्थ-रचना के कार्य में लगे हो। इसकी बड़ी आवश्यकता है। यथासाध्य प्रयत्न करने पर निःसन्देह प्रभु सहायक होंगे। मेरी पूर्ण सहानुभूति और आशीर्वाद स्वीकार करना।

* * *

यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि पुस्तक लिखने में सहायता के लिए तुमने बहुत से बँगला और अंग्रेजी ग्रन्थों का संग्रह किया है। अंग्रेजी ग्रन्थकारों का काफी नाम है, वे लोग जीवन्त जाति हैं, अतः वे सभी क्षेत्रों में उन्नति कर रहे हैं। प्रभु की कृपा से तुम लोग भी क्रमशः वैसा ही करोगे।

मिहिजाम से विद्याचैतन्य का पत्र पाकर बहुत से समाचारों से अवगत हुआ। उन लोगों का प्रयत्न और परिश्रम सफल हो, यही मेरी प्रार्थना है। सात्त्विक बुद्धि का आश्रय लेकर कार्य करने पर बुद्धि कर्म में लिप्त नहीं होगी। भगवान के अनुगत होकर, उनके हाथ के यंत्र के समान कार्य किए जाओ। प्रभु तुम लोगों को बल दें।

तुम लोगों के कल्याणार्थ प्रार्थना करता हूँ। ❑❑❑
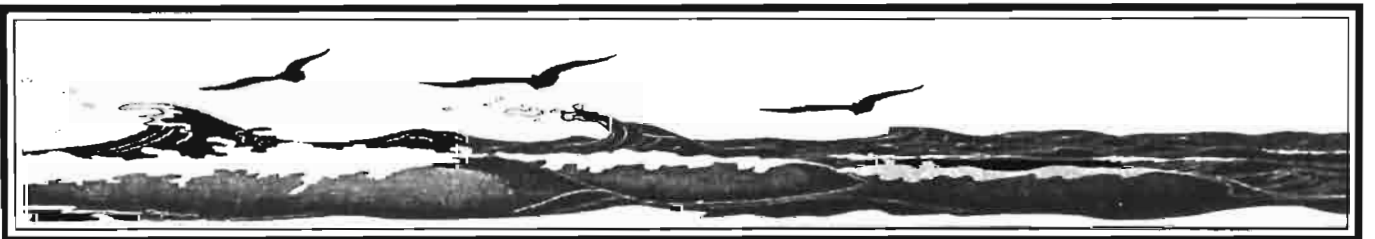
खेतड़ी के राजा अजीतसिंह

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है - विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। - सं.)

माउंट आबू से वापस खेतड़ी को

टिप्पणी - २४ जुलाई, १८९१ को श्रीमान् राजा साहब आबू से ११.१५ बजे, हाथ-गाड़ी में रवाना होकर, खारची स्टेशन से ट्रेन में सवार हुए। ट्रेन अजमेर होती हुई २५ जुलाई को सबेरे ५ बजे जयपुर पहुँची। ठाकुर हरिसिंह जी, मुंशी जगमोहनलाल जी, लाला जमनालाल जी वकील, लाला शिवबक्स जी, पनेसिंह जी वकील, सीकर के पं. लक्ष्मीनारायण जी और गोपालसहाय जी ने हाजिर होकर भेंट की। साढ़े पाँच बजे डेरे पर पधारे।

जयपुर के 'खेतड़ी हाउस' में

२६ जुलाई, १८९१, रविवार, जयपुर

७ बजे उठे। चुरुट पीया। हाथ-मुँह धोया। ८.३० बजे उत्तर के महल में विराजे। लोगों से तथा **स्वामी विवेकानन्द** जी से बातें होती रहीं। १० बजे स्नान करके भोजन किया।

२७ जुलाई, १८९१, सोमवार, जयपुर

लोगों से बातें होती रहीं। **ठाकुर हरिसिंह** जी, सीकर के शिवबक्स जी और **स्वामी विवेकानन्द** जी (भी थे)। १० बजे भोजन हुआ। १०.३० आराम फरमाया।

२९ जुलाई, १८९१, बुधवार, जयपुर

दरवाजे के ऊपर के महल में विराजकर शतरंज का खेले। ... **स्वामी विवेकानन्द** जी से बातें होती रहीं।

२ अगस्त, १८९१, रविवार, जयपुर

(शाम को) हवाखोरी के लिए निकले। ७ बजे वापस लौटे। नारायण सिंह जी, मादरसिंह जी, स्वामीजी आदि से बातें होती रहीं।

जयपुर से खेतड़ी की यात्रा

३ अगस्त, १८९१ को शाम के समय जयपुर से रेल में सवार हुए। १ बजकर ४ मिनट पर रेल खैरथल पहुँची। स्टेशन पर बांकोटी के ठाकुर हरनाथ सिंह जी और जोरावर सिंह जी खेतड़ी से सवारी लेकर आये हुए मौजूद थे। रात को वहीं आराम फरमाया।

४ अगस्त, १८९१ को १० बजे कोट पहुँचकर मुकाम किया। और ५ अगस्त को रवाना होकर ७ अगस्त को सबेरे ७.३० बजे खेतड़ी पहुँचे।

स्वामीजी के जीवन में खेतड़ी

स्वामी विवेकानन्द के जीवन में खेतड़ी राज्य तथा उसके स्वामी महाराजा अजीतसिंह का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ा और वह आजीवन अटूट बना रहा। स्वामीजी ने स्वयं ही ११ अक्तूबर १८९७ को मुन्शी जगमोहन लाल के नाम एक पत्र में लिखा - "कुछ विशेष व्यक्तियों का जन्म, किसी विशेष काल में, एक साथ मिलकर कुछ विशेष कार्य करने के निमित्त होता है। अजीतसिंह और मैं - दो ऐसी आत्माएँ हैं, जो मानव-समाज के कल्याण हेतु एक महान् कार्य में आपसी सहयोग करने के लिये पैदा हुए हैं। मैं उनसे प्रेम किये बिना नहीं रह सका और वे भी मुझसे प्रेम किये बिना नहीं रह सकते। यह पिछले जन्म का सम्बन्ध है। हम एक दूसरे के सहायक और परिपूरक हैं।"[1] २२ नवम्बर १८९८ को लिखा है - "इस जीवन में मैं आपको ही अपना एकमात्र मित्र मानता हूँ।" फिर १७ दिसम्बर १८९७ को खेतड़ी में ही एक व्याख्यान के दौरान स्वामीजी ने कहा था - "भारत के कल्याण हेतु मैंने जो कुछ थोड़ा-बहुत किया है, यदि राजाजी से मेरी भेंट नहीं हुई होती, तो उसे मैं नहीं कर पाता।"[2]

स्वामीजी के जीवन के इस पर्व को समझने के लिये इस राज्य तथा राजवंश का कुछ परिचय जानना आवश्यक है। मुख्यत: यह पं. झाबरमल्ल शर्मा द्वारा लिखित ग्रन्थों से संकलित किया गया है।

---

1. Swami Vivekananda - a Forgotten Chapter of His Life, Beni Shankar Sharma, Ed. 1982, p. 108
2. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol IX, p. 108

खेतड़ी का शेखावत राजवंश

राजपुताने की सबसे महत्त्वपूर्ण जयपुर की रियासत ११वीं शताब्दी से ही कछवाहा राजपूतों द्वारा शासित थी। १८वीं शताब्दी में जयपुर नगर की स्थापना के पूर्व तक यह आमेर रियासत के नाम से परिचित थी। इसी का उत्तर-पश्चिमी भाग शेखावाटी कहलाता है। पहले वह आमेर राजवंश की ही एक शाखा शेखावत राजपूतों के अधीन था। आमेर के १३वें राजा उदयकरण (१३६६-१३८८) के तीन पुत्रों में मझले का नाम था बालाजी। उन्हीं के पौत्र शेखाजी के नाम पर यह वंश शेखावत और वह क्षेत्र शेखावाटी कहलाया। शेखाजी ने अपने बाहुबल से ३६० गाँवों पर अधिकार करके एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की थी। प्रारम्भ में इनकी राजधानी जयपुर से ३४ मील उत्तर अमरसर में थी। १८वीं सदी के आरम्भ में जयपुर के सवाई राजा जयसिंह अपने प्रभुत्व का विस्तार कर रहे थे और शेखावत सरदारों में झुंझुनू के शार्दुलसिंह और सीकर के शिवसिंह भी अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे। बाद में ये दोनों जयपुर के अपने वंश के वरिष्ठ भ्राता की अधीनता स्वीकार करने को विवश हुए।

झुंझुनू में शेखावत-वंश का राज्य स्थापित करने वाले शार्दुलसिंह के पौत्र भोपालसिंह जसरापुर के ठाकुर निर्वाण ठाकुर की पुत्री से विवाह करने वहाँ गये थे। उन्होंने अपनी ससुराल से लगभग १० किलोमीटर दूर पहाड़ियों से घिरा एक हरा-भरा स्थान देखा और उसे घोड़ों को चराने के उपयुक्त समझकर उसे अपने ससुर से माँग लिया। उन दिनों वह स्थान 'खेतसिंह की ढानी' कहलाता था। १७५५ ई. में भोपालसिंह ने वर्तमान खेतड़ी नगर को बसाना आरम्भ किया। दो वर्षों के भीतर ही २३३७ फीट की ऊँची एक पहाड़ी पर अपना किला बनवाकर वे अपनी राजधानी वहीं ले आये। १७७१ ई. में उनके छोटे भाई बाघसिंह, और उसके बाद १८०० ई. में बाघसिंह के पुत्र अभयसिंह राजा हुए। अभयसिंह के पुत्र बख्तावरसिंह ने केवल तीन वर्ष (१८२६-२९) ही राज्य किया। उनके पुत्र शिवनाथसिंह ने १८४३ तक, उनके पुत्र फतहसिंह ने १८७० तक और उनके दत्तक पुत्र अजीतसिंह ने १९०१ ई. तक राज्य किया। शेखावत कुल के ये राजा अजीतसिंह ही स्वामी विवेकानन्द जी के शिष्य हुए और आजीवन एक अभिन्न मित्र बने रहे।[३]

खेतड़ी राज्य का परिचय

खेतड़ी संस्थान जयपुर रियासत को कर देनेवाला एक ठिकाना था, जिसके दो भाग थे – शेखावाटी और तोरावाटी। शेखावाटी वाला अंश खेतड़ी-नरेश के पूर्वजों ने अपने बाहुबल से अर्जित किया था और तोरावाटी (कोटपुतली) वाला अंश अंग्रेजों से पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुआ था। इस संस्थान की कुल वार्षिक आमदनी लगभग १० लाख रुपये थी। इसमें से लगभग ७५ हजार रुपये जयपुर रियासत को कर के रूप में भेजे जाते थे। जयपुर-दरबार में खेतड़ी-नरेश को ताजीम का सम्मान प्राप्त था।

खेतड़ी संस्थान का क्षेत्रफल ९०३ वर्गमील था, जिसकी करीब १६८ वर्गमील भूमि पर्वतों से आच्छादित तथा खन्दकमय थी। इसके अन्तर्गत ७ नगर तथा २६६ गाँव आते थे, जिनमें २ नगरों तथा १३ गाँवों पर अन्य शेखावत सरदारों का भी हिस्सा था। खेतड़ी नगर के अतिरिक्त प्रमुख कस्बों के नाम हैं – झुंझुनू, चिड़ावा, कोट, जसरापुर, बगड़, सिंहाना, अजीतगढ़, चूड़ी, सलामपुर और बबाई। सीकर, अलवर, पटियाला तथा लुहारू की सीमा खेतड़ी से मिलती थी।

खेतड़ी के उच्चतम पहाड़ी पर भोपालगढ़ का किला तथा महल बना हुआ है। बाघोर का प्राचीन दुर्ग भी पहाड़ियों में स्थित है, जिसका परकोटा २५ मील के घेरे में फैला हुआ है। वहाँ बौद्धकालीन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। खेतड़ी के पास ही पहाड़ियों में प्राचीन काल से ही ताँबे का उत्खनन होता रहा है। १९११ की जनगणना के अनुसार इसके अधीन लगभग १७ हजार घरों में १ लाख ३४ हजार लोग निवास करते थे। राजा अजीतसिंह ने अपने पिता द्वारा मामूली से मदरसे को एक हाईस्कूल का रूप दिया। यह हाईस्कूल जयपुर मण्डल में प्रथम था। बाद में इसी का नाम जयसिंह हाईस्कूल कर दिया गया।[४]

खेतड़ी नगर का विवरण

आज खेतड़ी नगर में काफी परिवर्तन हो चुका है, परन्तु जब स्वामीजी खेतड़ी पधारे थे, उस समय वह नगर कैसा दिखता होगा, इसका विवरण १९२७ में प्रकाशित उसी पुस्तक के आधार पर इस प्रकार है –

यह नगर जयपुर से लगभग १४४ किलोमीटर उत्तर में पर्वतों के बीच सुन्दर सुरक्षित स्थान पर बसा हुआ है। पहाड़ के ऊपर भूपालगढ़ किला तथा राजमहल बने हुए हैं। खेतड़ी नगर से ऊपर किले तक जाने के लिये पथरीली सड़क बनी हुई है। किले में पेड़-पौधे तथा लोगों की बस्ती भी है। **विशाल दीवानखाने की ऊपरी मंजिलों पर फूलगोख फतह-विलास और छवि-निवास हैं।** दीवानखाने के सामने एक बहुत बड़ा प्रांगण और उसके बीच में एक फव्वारा शोभित हो रहा है। दीवानखाने के पूर्व में राजप्रासाद, दक्षिण में विस्तीर्ण

३. पं. झाबरमल्ल शर्मा द्वारा लिखित 'राजस्थान और नेहरू परिवार', दिल्ली, १९८१, पृ. ३१-३५ और 'खेतड़ी का इतिहास', कलकत्ता, १९२७, पृ. ३५-१०३

४. 'खेतड़ी का इतिहास', कलकत्ता, १९२७, पृ. १-१६

मैदान और उसके चारों ओर सरकारी मकानात तथा अस्तबल आदि हैं। वहाँ कोठी जयनिवास, सुखमहल, जयसिंह-हाई-स्कूल, अजीत हास्पिटल, अजीत-निवास बाग, बन्ध अजीत-सागर और ठाकुर शोभागसिंह जी का बन्ध आदि भी देखने योग्य हैं। यहाँ चूड़ावतजी, राणावतजी और भटियानीजी के विशाल मन्दिरों के साथ-साथ खेतड़ी के दर्शनीय स्थानों की तालिका में सेठ पन्नालालजी शाह के तालाब का नाम भी जोड़ा जाना चाहिये। शाहजी ने १८७० ई. में प्राय: एक लाख रुपये व्यय करके उक्त सरोवर का निर्माण कराया। शेखावाटी भर में यह तालाब अपना जोड़ा नहीं रखता। इसके चारों ओर ऊँची दीवारें, महिलाओं तथा पुरुषों के लिये अलग-अलग मजबूत घाट, घूमने के लिये चारों ओर पक्का फर्श और रहने के लिये कई बाराहदरियाँ तथा तिदरियाँ बनी हुई हैं। राजा अजीतसिंह जी ने करीब १४,००० व्यय करके पहाड़ी नालों से इस तालाब तक जल लाने के लिये एक नगर बनवा दी थी। १८९७ ई. में वहाँ के महलों में गैस की रोशनियाँ लगवा दी गयी थीं।[५]

राजा अजीतसिंह : एक परिचय

खेतड़ी राज्य के संस्थापक भोपालसिंह के भाई पहाड़सिंह के वंशजों में अलसीसर के सरदार विशालसिंह के तीन पुत्र थे – छत्रसिंह, बनेसिंह और गणपतसिंह। खेतड़ीनरेश राजा अजीतसिंह का जन्म इन्हीं छत्रसिंह के पुत्र-रूप में १८६१ ई. की १६ अक्तूबर को हुआ था। अपनी आयु के छठें वर्ष में ही वे अपने माता-पिता को खो बैठे। राजा फतेहसिंह ने पहले ही उन्हें अपना उत्तराधिकारी चुन लिया था। अत: उनका स्वर्गवास होने पर तदनुसार ९ वर्ष की आयु में १५ दिसम्बर १८७० को अजीतसिंह को खेतड़ी की राजगद्दी पर बैठा दिया गया। पं. नन्दलाल नेहरू पिछले १० वर्षों से खेतड़ी के दीवान थे। उनकी छोटे भाई मोतीलाल नेहरू राजाजी के समवयस्क थे। इन्हीं दिनों उनके बीच मित्रता का सूत्रपात हुआ, जो आजीवन चलता रहा। बाद में जब मोतीलालजी इलाहाबाद के उच्च न्यायालय में कानून के अधिवक्ता के रूप में कार्य करने लगे, उस काल के खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह के नाम लिखे हुए अनेक पत्र प्राप्त होते हैं।[६]

राजाजी की नाबालगी के दौरान राज-काज चलाने के लिये जयपुर के एक आदेश के अनुसार एक प्रबन्ध-समिति का गठन हुआ था। विभागों का गठन इस प्रकार हुआ था –

१. ठाकुर शोभागसिंह लाड़खानी (शासन-प्रमुख)

२. मुंशी हरवक्ष जी (तहसीलों के प्रभारी)

३. मुंशी हरनारायणजी (फौजदारी और दीवानी अदालत)

४. धाभाई शिववक्षजी (फौज और किलेजात)

५. श्री रामलाल जी (कारखाने जात)

परन्तु इन सदस्यों में तालमेल न होने के कारण आपसी झगड़े होने लगे। अत: ठाकुर शोभागसिंह जी को सेवानिवृत्त होना पड़ा। जयपुर स्टेट कौंसिल के आदेश से मुंशी कन्हैया लालजी भार्गव राज-मुनसरिम नियुक्त होकर खेतड़ी आये। जयपुर-नरेश सवाई रामसिंह ने स्वयं ही अजीतसिंह के संरक्षक का भार लिया। पं. गोपीनाथजी को राजा अजीतसिंह की शिक्षा का भार सौंपा गया। बाद में उन्हें जयपुर के नोबल्स स्कूल में भर्ती कराया गया। समुचित शिक्षा पूरी हो जाने पर १९३२ वि. (१८७५ ई.) में आउवा के ठाकुर देवीसिंह चांपावत की पुत्री के साथ उनका विवाह हुआ और वि. १९३७ (१९८० ई.) में उन्हें पूर्ण शासनाधिकार प्राप्त हो गया। उस समय राज्य पर लगभग ११ लाख का ऋण था। राजाजी ने अगले छह वर्षों के दौरान उसे व्याजसहित चुका दिया। जयपुराधीश रामसिंह का उन पर विशेष अनुराग था, परन्तु उसी वर्ष (१९८०) उनका स्वर्गवास हो जाने पर उनके दत्तक पुत्र सवाई माधवसिंह गद्दी पर बैठे। इसके बाद राजा अजीतसिंह ने खेतड़ी लौटकर अपने राज्य की व्यवस्था में पूरा समय लगाया। अपने विद्यागुरु पं. गोपीनाथजी को उन्होंने पहले तो खजाने तथा फौज का विभाग दिया, उसके बाद राजसभा का प्रधान सदस्य बनाया। इसके अतिरिक्त उन दिनों ठाकुर रामवक्ष, ठाकुर हरीसिंह लाड़खानी, शाह अर्जुन दास, मुंशी जगमोहन लाल, शाह ब्रजलाल, लाला शोभालाल, पं. भैरूनाथ कश्मीरी, नवाब ईसेखां, मीर मुहम्मद शफी और मुंशी जमीर अली आदि ने उनकी राजसभा के सदस्य तथा विभिन्न विभागों के अधिकारी के रूप में सेवा दी थी। पं. कन्हैयालाल राजाजी के निजी सचिव तथा इंजीनियरिंग विभाग के प्रभारी थे। उनके व्यक्तिगत सहायकों में पं. लक्ष्मीनारायण, चौधरी नारायणदास, गंगासहाय, मास्टर रामलाल, लाला वसन्तीलाल कायस्थ आदि उल्लेखनीय हैं। पं. शंकरलाल शर्मा शिक्षा विभाग के, पं. चिरंजीलाल पुलिस विभाग के और पं. अम्बादत्त मिश्र पुण्य-विभाग के व्यवस्थापक थे।

राजाजी ने खेतड़ी राज्य में शिक्षा विभाग की स्थापना कर वहाँ के साधारण पाठशाले को हाईस्कूल का रूप दिया, जो जयपुर-मण्डल का प्रथम हाईस्कूल हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत पाठशाला और कई स्थानों में प्राथमिक शालाएँ खुलवायीं। खेतड़ी तथा कोटपुतली में अस्पतालों की स्थापना की गयी। राजाजी बड़े ही मिलनसार थे और सबसे बड़े खुले दिल से मिलते थे। अतिथि-सत्कार का अच्छा प्रबन्ध कराया था और खेतड़ी में आनेवाले सभी विद्वान् तथा साधु-संन्यासी यथोचित सत्कार पाते थे। १८९९ ई. में उस अंचल में पड़े भयंकर अकाल के दौरान उन्होंने अपने हाथ-खर्च तक से पैसे

५. वही, पृ. १७-१८

६. 'राजस्थान और नेहरू परिवार', दिल्ली, १९८१, पृ. ७३-७८

बचाकर गरीबों की सहायता की और लोगों को रोजगार देने के लिये बहुत से कार्य आरम्भ कराये।

उन्होंने केवल एक ही विवाह किया था, जिससे दो पुत्रियाँ तथा एक पुत्र हुए। राजकुमारी सूर्यकुमारी का जन्म वि. सं. १९३९ (१९८२ ई.) में, चन्द्रकुमारी का वि. सं. १९४५ (१९८८ ई.) में और राजकुमार जयसिंह का वि. सं. १९४९ (१८९३ ई.) में हुआ था।

खेतड़ी के निकट स्थित अजीत-निवास बाग, बन्ध अजीत-सागर और बन्ध अजीत-समन्द अब भी उनकी कीर्ति-ध्वजा फहरा रहे हैं। उन्होंने अनेक सुन्दर उद्यान भी लगवाये थे। उनके समय में खेतड़ी की आय लगभग ५ लाख थी और इसका अधिकांश भाग जनहित के कार्यों में ही व्यय होता था। विद्वानों, कवियों तथा संगीतज्ञों की उनके दरबार में बड़ी प्रतिष्ठा थी। वे स्वयं भी काव्य-रचना तथा वीणा-वादन करते थे। राजाजी ने अनेक सुन्दर कविताएँ लिखी थीं, उनमें से एक यहाँ प्रस्तुत है –

धन्य हमारो भाग,
जग में धन्य हमारो भाग।
ये ते दिवस नींद में बीते,
अब आयो हूँ जाग।। जग में ...।।
उतपति नास जगत को लखि कै,
गयी विषय की लाग।
चाह तजी मन सारी या तैं,
रह्यो न तन को राग।। जग में ...।।
ज्ञानामृत बरस्यो है ता सों
बुझी भेद की आग।
धन्य ईश गुरुदेव लखे मैं
मेट्यो मन को दाग।। जग में ...।।
गीता को उपदेश सुनत ही
जल गयो ज्ञान-चिराग।
मोह-तिमिर को नास भयो हैं
दरस्यो आनँद बाग।। जग में ...।।
ज्ञान लहे नर देव देव है
नातर है सुर-छाग।।
'अजीत' ज्ञान की नाव बनावै
लखि भव-सिन्धु अथाग।। जग में ...।।[७]

राजा अजीतसिंह की दिनचर्या

खेतड़ी में रहते समय राजा अजीतसिंह जी की प्रतिदिन की दिनचर्या का एक विवरण (आदर्श नरेश, पृ. ३६५) यहाँ प्रस्तुत है। इससे वाक्यात रजिस्टर की प्रविष्टियों को समझने में सुविधा होगी।

"प्रात:काल शैय्या त्याग करके शौच आदि से निवृत्त हो, दीवानखाने की छत पर दक्षिणवाले 'साइवान' में आराम-कुर्सी पर विराजकर अश्वालय के घोड़ों की फिरत अथवा 'पलटन तिलंगान' या 'रिसाला खास' की कवायद (जिसके भी लिए आज्ञा होती) का निरीक्षण करते। यदि कहीं किसी प्रकार की त्रुटि दृष्टिगत होती, किम्बा किसी तरह की नवीनता लानी अभीष्ट होती, तो आवश्यक आदेश देते जाते।

"इसी समयान्तर में 'सलाम' करनेवाले लोग उपस्थित होते, उनकी सलाम लेते। अनन्तर ७/७.३० बजे डाक पहुँचने पर सब चिट्ठियों को स्वयं पढ़ते और उनके सम्बन्ध में उचित आज्ञा प्रदान करने के पश्चात् अखबारों को पढ़ते और सुनते। श्रीमान की खुली आज्ञा थी कि जिस किसी को अपने अभाव, अभियोग या दुख-दर्द का निवेदन करना हो, वह अश्वालय (अस्तबल) की छत पर अपना निवेदन-पत्र लेकर उपस्थित हो जाय। इस आज्ञा के अनुसार ९.३० बजे उपस्थित प्रार्थियों के प्रार्थना-पत्र मीरमुंशी (नीजी सचिव) से सुनकर उनके विषय में हुक्म फरमाते। पश्चात् ११ बजे भोजन करते और १२ बजे से २ बजे तक राज्य-कार्य-सम्बन्धी कागज, पत्र, मिसल आदि मीरमुंशी से सुनते तथा मंत्रियों से परामर्श करते। २ बजे से ४ बजे तक एकान्त में पुस्तकावलोकन और संगीत का अभ्यास करते।

"४ बजे के पश्चात् नित्य के काम से फारिग होकर श्रीमान बग्घी अथवा घोड़े पर सवार हो अजीत-निवास बाग में पधारते। वहाँ टेनिस का खेल होता। सायंकाल को वापस पधारकर **दीवानखाने की छत अथवा कमरे में समुपस्थित अभिवादन (सलाम) करनेवालों का अभिवादन स्वीकार करते और गायक-मण्डली का गाना सुनते।**

"७ बजे के लगभग **'छवि-निवास' में अथवा छत पर विराज कर पण्डित-मण्डली से धर्म तथा शास्त्र-विषयक विचार करते।** ९ बजे थाल आने पर भोजन करते और पश्चात् शयन। दिनचर्या का यह मोटा-मोटी हिसाब था। इसमें आवश्यकतानुसार आगा-पीछा और कभी-कभी घटा-बढ़ी भी हो जाती थी।

"श्रीमान की आज्ञा थी कि श्रावणी पूर्णिमा को शाह पन्ना लाल जी के तालाब अथवा बन्ध-अजीत-समन्द पर त्रिवर्ण के लोग उपस्थित होकर धर्मसभा के आदेशानुसार सभा के सदस्यों सहित श्रीमान की उपस्थिति में यथाविधि उपाकर्म करें। उपाकर्म के पश्चात् ब्रह्मण-मण्डली को आदरपूर्वक भोजन कराया जाता। ... प्रतिदिन भोजन के पूर्व श्रीमान भगवान का चरणामृत लेते थे और गौओं को रोटियाँ, कबूतरों को अन्न, लंगूरों को भुने हुए चने और भिक्षुकों को आमान्न बाँटते थे।"

❖ (क्रमश:) ❖

७. आदर्श नरेश, पं. झाबरमल्ल शर्मा, जसरापुर, १९४०, पृ. ८३
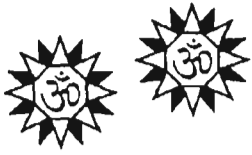
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (८)
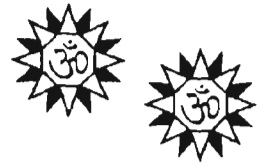
भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

मुगलों का आकर्षण

लगता था कि मुगलों ने स्वामीजी पर जादू कर दिया हो। भारतीय इतिहास का यह काल वे ऐसी नाटकीय सजीवता के साथ प्रस्तुत करते कि बहुधा हमारे मन में आता मानो वे अपने ही अतीत की कथा सुना रहे हों। कई बार हम लोग यह सोचने को मजबूर हो जाते कि कहीं हम महाप्रतापी अकबर के एक नये अवतार को तो नहीं देख रहे हैं! अन्यथा वे कैसे उस महान् मुगल के विचारों, आकांक्षाओं तथा उद्देश्यों को इस प्रकार जान पाते?

उनका एक विश्वास यह भी था कि व्यक्ति को तभी मुक्ति मिल सकती है, जब वह अपने पिछले जन्मों में सभी प्रकार के कष्ट व चरम निर्धनता और जगत् में सम्भाव्य सभी तरह के धन-दौलत, प्रशंसा, वैभव, यश, सत्ता, सुख, साम्राज्य आदि का अनुभव ले चुका हो। कभी-कभी वे उच्छ्वसित भाव से कहते – "लाखों बार मैं सम्राट् बन चुका हूँ।"

उनका एक अन्य भाव भी था और वह यह कि अनेक जन्मों तक प्रयास करने पर भी व्यक्ति को पूर्ण सफलता न मिलने पर जागतिक उपलब्धियों का एक ऐसा अन्तिम जीवन आता है, जिसमें वह एक महान् सम्राट् या सम्राज्ञी बन जाता है। और उसके बाद के जन्म में ही उसे चरम लक्ष्य – मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। भारत में लोग विश्वास करते हैं कि अकबर सम्राट् बनने के पूर्ववर्ती जन्म में एक आध्यात्मिक साधक था। उस समय वह अपना चरम लक्ष्य पाने में असफल रहा और अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये उसे एक बार फिर जन्म लेना पड़ा था। इसके बाद उसके लिये केवल एक ही जन्म और बचा था।

स्वामीजी ने हमारे समक्ष इन शासकों, महारानियों, प्रधान-मंत्रियों, सेनानायकों आदि के ऐतिहासिक व्यक्तित्वों का इतना जीवन्त वर्णन किया कि वे हमें अपने परिचित सजीव नर-नारी प्रतीत होने लगे। हमने फरगना (मध्य एशिया) के बारह वर्षीय बादशाह बाबर को देखा, जो अपनी मंगोल दादी से प्रभावित हुआ था और अपनी माँ के साथ एक बड़ा कठोर कष्टपूर्ण जीवन बिता रहा था। बाद में हमने उसे सौ दिनों तक समरकन्द के सुल्तान के रूप में देखा। तब भी वह एक बालक ही था और अपनी इस नयी उपलब्धि पर वैसे ही प्रसन्न था मानो उसे कोई बड़ा खिलौना मिल गया हो। फिर वह अपने इस सपनों के नगर के खो जाने पर हमने उसकी चिन्ता तथा हताशा को देखा; उसके संघर्षों और उसके जय-पराजयों को देखा। उसके बाद हमने उसे अपने सैनिकों के साथ उत्तुंग पहाड़ी दर्रों को पार करके भारत के मैदानी क्षेत्रों में उतरते देखा। एक विदेशी तथा आक्रान्ता होकर भी, भारत के सम्राट् के रूप में उसने स्वयं को इस देश के साथ एकात्म कर लिया था और तत्काल सड़कें बनवाने, पेड़ लगवाने, कुएँ खुदवाने और नगरों के निर्माण-कार्य में लग गया। परन्तु उसका हृदय हमेशा ही अपने उन पहाड़ी अंचलों में लगा रहा, जहाँ से वह आया था और जहाँ आखिर में उसे दफनाया गया। वह एक आकर्षक और साहसी व्यक्ति था, जिसने मानव-इतिहास के महानतम राजवंशों में से एक की स्थापना की थी।

उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य दूसरे के हाथों में पड़ गया और बाबर के उत्तराधिकारी हुमायूँ को पलायन करना पड़ा। सिन्ध के रेगिस्तानों में, अपने मुट्ठी भर सहयोगियों के साथ, वह अपनी जान बचाते हुए इधर से उधर भागता रहा। वहीं पर उसकी एक सुन्दर मुसलमान युवती हमीदा से भेंट और फिर शादी हुई। वही उसके चरम दुर्दिनों की संगिनी बनी। हमने देखा कि वह हमीदा को अपना घोड़ा देकर उसके साथ-साथ पैदल ही चल रहा है। फिर सिन्ध के उन रेगिस्तानों में ही उसके इकलौते पुत्र का जन्म हुआ, जो बाद में सम्राट् अकबर बना। हुमायूँ उन दिनों ऐसी बुरी परिस्थितियों में था कि उसके पास इस घटना की खुशी मनाते समय अपने अनुयाइयों को उपहार के रूप में बाँटने के लिये एक

कस्तूरी को छोड़ और कुछ भी नहीं था। उसने उसी को उन लोगों में बाँटते हुए प्रार्थना की – "हे प्रभो, इस कस्तूरी की सुगन्ध के समान ही मेरे पुत्र की महिमा भी पृथ्वी के सभी अंचलों में फैल जाय।"

हुमायूँ ने एक बार फिर अपने साम्राज्य को प्राप्त कर लिया, परन्तु वह ज्यादा दिन इसका भोग नहीं कर सका, क्योंकि अपने जीवन के ४८वें वर्ष में ही उसके दिल्ली के महल में उसके साथ हुई एक घातक दुर्घटना के फलस्वरूप उसकी मृत्यु हो गयी। इसके बाद उसका इकलौता पुत्र अकबर सिंहासन पर बैठा, जिसकी आयु तब १३ वर्ष से थोड़ी ही अधिक थी। उसी समय से ६३ साल की आयु में अपनी मृत्यु तक अकबर भारत का एकछत्र सम्राट् बना रहा। इतिहास में उसके समान अनेक गुणों से युक्त व्यक्ति बहुत कम ही हुए हैं। उनकी महानता और उदारता के समक्ष उनके महान् सेनापति बैरम खाँ भी लज्जित हो जाते थे। उनकी किशोरावस्था में ही, जब बहरम खान ने उनके शत्रु को उनके सामने पेश किया और युवा सम्राट् के हाथ में एक तलवार देते हुए उसे मार डालने को कहा, तो वे बोले – "मैं पराजित शत्रु को नहीं मारता।" उनका साहस निर्विवाद और सर्वजन-प्रशंसित था। खेलकूद – निशानेबाजी, पोलो और घुड़सवारी में भी शायद ही कोई उनकी बराबरी कर पाता था। परन्तु इन सबके बावजूद उनकी आदतें बड़ी संयमित थीं। वे मांस नहीं खाते थे, कहते – "मैं अपने पेट को कब्रिस्तान क्यों बनाऊँ?" हर रात वे केवल कुछ घण्टे ही सोते थे और बाकी समय दार्शनिक तथा आध्यात्मिक चर्चाओं में बिताते। एक मुसलमान होकर भी वे सभी धर्मों के आचार्यों के उपदेश सुनते और उनसे प्रश्न भी करते। फिर एक ब्राह्मण को अपने कवाखाना (बुर्ज) में बुलाकर वे रात-रात भर उससे हिन्दू योग के रहस्य भी सीखते। बाद के वर्षों में उन्होंने अपनी अध्यक्षता में एक नवीन धर्म स्थापित करने की योजना बनाई, जिसमें मुसलमानों के साथ हिन्दू, ईसाई तथा पारसी भी योगदान करनेवाले थे।

शाहंशाह होकर भी उनमें सच्चे मित्र बनाने का गुण था। उनमें से चार ऐसे थे, जो इन देवात्मा के मित्र होने के योग्य थे – उनके प्रधानमंत्री अबुल फजल, महाकवि फैजी, ब्राह्मण प्रशंसक बीरबल और साले तथा सेनापति मानसिंह। दो हिन्दू और दो मुसलमान; दोनों फजल आपस में भाई थे।

उनके मित्र न केवल उनके साथ हँसी-खुशी के मौके पर साथ रहते थे, अपितु दरबार और युद्ध में भी उसकी बगल में उपस्थित रहते थे। हम देखते हैं कि जब राजपूतों के साथ युद्ध में उनका जीवन खतरे में पड़ा, तो वे लोग अपनी तलवारें निकालकर उनकी रक्षा में जुट गये। वे मुसलमान हों या हिन्दू, उनके नये धर्म के अनुयायी बन गये और उनके सभी कार्यों का निष्ठापूर्वक समर्थन किया। किसी व्यक्ति को शायद ही कभी इतने सच्चे मित्र मिले होंगे। सामान्य जीवन में तो यह दुर्लभ ही है, परन्तु इतनी उच्च अधिकार-प्राप्त व्यक्ति के बारे में तो प्राय: ऐसा सुनने में ही नहीं आता। उनका साम्राज्य काबुल से लेकर दक्षिण भारत के अन्तिम छोर तक फैला था। एक प्रतिभाशाली प्रशासक होने के कारण ही वे अपना संयुक्त साम्राज्य अपने पुत्र सलीम को सौंप सके थे, जो बाद में सम्राट् जहाँगीर के नाम से परिचित हुआ। 'अकबर के इस भव्य पुत्र' के अधीन मुगल दरबार का वैभव इतनी बुलंदियों तक पहुँचा, जिसके सामने विलासिता-सम्बन्धी पहले के सारे विचार फीके पड़ गये।

अब जहाँगीर की सम्राज्ञी नूरजहाँ (दुनिया की रौशनी) का आकर्षक व्यक्तित्व प्रकट होता है, जो २० वर्षों तक भारत की वास्तविक शासक रही। इस अद्भुत महिला का प्रभाव असीम था। काफी कुछ उसी की महान् विवेक-बुद्धि तथा व्यावहारिकता के फलस्वरूप साम्राज्य की स्थिरता, समृद्धि तथा सत्ता कायम रही। उसके पति ने उसके नाम पर सिक्के चलाये, जिन पर लिखा था – "नूरजहाँ का चित्र धारण करने के फलस्वरूप सोने की कीमत बढ़ी।" इस महान् मुगल की उसमें विश्वास और निष्ठा असीम थी। अपने सम्बन्धियों द्वारा उसे राजसत्ता सौंपे जाने का प्रतिवाद करने पर उन्होंने कहा था – "यदि वह मुझसे अच्छे ढंग से सत्ता चला सकती है, तो ऐसा क्यों न किया जाय?" जब वे बीमार थे, तो उन्होंने सभी चिकित्सकों को छोड़कर उसी की दवा लेना पसन्द किया। केवल उसी में क्षमता थी कि वह उसकी आदत को नियंत्रित करके उसे तीन कप मदिरा तक ही सीमित रखे।

नूरजहाँ के शासन के दिनों में ही एक नये प्रकार की स्थापत्य-कला आरम्भ हुई – एक कोमल पद्धति का स्थापत्य, जिसमें अकबर द्वारा निर्मित भवनों के मर्दाने लाल बलुआ पत्थरों के साथ सफेद संगमरमर का प्रयोग हुआ और उसमें तरह-तरह के कीमती तथा कम-कीमती जवाहरात जड़े जाने लगे। साधारण दीवारों की जगह रत्नजटित दीवारों ने ले ली। मध्य एशियाई पहाड़ियों की ऊर्जा और ताकत के स्थान पर फारस की बारीकी तथा मृदुता ने ले ली। ताजमहल और संगमरमर के बने आगरा, दिल्ली तथा लाहौर के महल इसी स्थापत्य-कला की विरासत हैं। नूरजहाँ के पिता एतमादुद्दौला जहाँगीर के कोषाध्यक्ष और बाद में प्रधानमंत्री हुए। उनकी याद में यमुना के उस पार बनवाया गया मकबरा इस नयी स्थापत्य पद्धति से बने शुरुआती इमारतों में से एक था। कहते हैं कि नूरजहाँ के दासों ने ही इन पत्थरों के अलंकरण का काम किया था। इस प्रथम अपूर्ण प्रयास के साथ ताजमहल की पूर्णता की तुलना बड़ी रोचक प्रतीत होती है, जिसमें गुलाब की एक पंखुड़ी के लाल रंगों के सूक्ष्म अन्तर को व्यक्त करने के लिये ४४ विभिन्न प्रकार के पत्थरों का

उपयोग किया गया है। निपुणता का यह विकास अद्भुत है।

आगरा के महल में नूरजहाँ का समन बुर्ज नामक अपना कक्ष भी उसकी अपनी निगरानी में सज्जित किया गया था। सचमुच ही वह कलाओं की एक महान् आश्रयदात्री थी और उसकी उदारता असीम थी।

किसी भी व्यक्ति या जाति की केवल महानता ही देखने की प्रतिभा से युक्त स्वामी विवेकानन्द जैसे एक व्यक्ति की मुसलमानों के बारे में ऐसी समझ, कोई आश्चर्य की बात न थी। उनके लिये भारत केवल हिन्दुओं का ही नहीं, सबका देश था। वे प्राय: ही कहा करते – "मेरे मुसलमान भाई।" क्योंकि इन मुसलमान भाइयों की संस्कृति, धर्मनिष्ठा तथा पौरुष के बारे में, उनकी जो समझ, प्रशंसा तथा एकात्मता का भाव था, उसकी बराबरी शायद ही कोई मुसलमान भी कर पाता। उनकी एक यात्रा की संगिनी बताती हैं कि जब जलयान ने जिब्राल्टर में प्रवेश किया, तो मुसलमान लश्करों का 'दीन, दीन' पुकारते हुए जमीन पर लेट जाना देखकर स्वामीजी बड़ी गहराई तक अभिभूत हो गये थे।

वे घण्टों तक सतत अरब के उन युवा ऊँट-चालक के बारे में बोलते रहते, जिन्होंने ईसा के छठवीं शताब्दी में अपने देश को पतन के गर्त से ऊपर उठाने का प्रयास किया था। उन्होंने बताया कि कैसे रात-पर-रात प्रार्थना में बीत गयी और उसके बाद उस मरुभूमि की पहाड़ियों में एक सुदीर्घ उपवास के बाद उन्हें एक दर्शन मिला। ईश्वर के प्रति तीव्र अनुराग और उनसे प्राप्त दिव्य अनुभूति के द्वारा प्रबुद्ध होकर वे विश्व-इतिहास में सदा-सर्वदा के लिये ईश्वर के चुनिंदा लोगों में से एक हो गये। ऐसे महान् लोग अत्यल्प ही हुए हैं और इनमें से प्रत्येक के बारे में ईमानदारी के साथ कहा जा सकता है – "उनके साम्राज्य का कोई अन्त नहीं है।"

हमें बोध हुआ कि अरब, फिलीस्तीन या भारत में – जब ईश्वर के पुत्र नया जन्म लेते हैं, तो वे सर्वत्र एक ही तरह की भाषा बोलते हैं। स्वामीजी पैगम्बर के एकाकीपन को महसूस करते थे, जो आम लोगों की निगाह में एक पागल थे। वर्षों तक केवल मुट्ठी भर लोगों ने ही उन पर तथा उनके सन्देश पर विश्वास किया। अरब के पैगम्बर ने इस कार्य को जिस धैर्य, करुणा तथा उत्तरदायित्व के साथ पूरा किया, उसे हम धीरे-धीरे ही समझ सके थे।

विशुद्धतावादी मानसिकता वाले किसी ने प्रतिवाद करते हुए कहा – "पर उन्होंने तो बहुविवाह का प्रचार किया था!" इस पर स्वामीजी ने बताया कि अरब देशों में पहले से ही बहु-विवाह का एक और भी विकृत रूप प्रचलन में था, मुहम्मद ने उसे प्रति व्यक्ति चार पत्नियों तक ही सीमित कर दिया।

एक अन्य ने उद्विग्न स्वर में कहा – "उनका कहना था कि महिलाओं में आत्मा नहीं होती।" इससे – इस्लाम में महिलाओं का स्थान – विषय पर व्याख्या की जरूरत पड़ी। अमेरिकी श्रोताओं को यह जानकर थोड़ी खीझ भी हुई कि मुस्लिम महिलाओं को कुछ ऐसे अधिकार मिले हुए हैं, जो तथाकथित मुक्त अमेरिकी महिलाओं को भी अप्राप्त हैं।

इस सामान्य प्रश्नोत्तर के बाद एक बार फिर उन्होंने हमारी चेतना को और भी विस्तृत तथा दूरतर क्षितिज के उच्च परिवेश में उन्नीत कर दिया। हजरत मुहम्मद का दृष्टिकोण चाहे जितना भी संकीर्ण तथा अज्ञानपूर्ण क्यों न लगे, इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि वे एक विश्वपुरुष थे; और उनके द्वारा उन्मुक्त की हुई शक्ति ने पूरी दुनिया को हिला दिया था तथा अब भी वह समाप्त नहीं हुई है।

क्या उन्होंने चेष्टापूर्वक एक नये धर्म की स्थापना की? यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि यह आन्दोलन उनके किसी सुनियोजित योजना का परिणाम न था। प्रारम्भ में तो वे अपनी उस महान् अनुभूति में डूबे हुए थे और बाद में उनके मन में अदम्य इच्छा जगी कि इस अमोल उपलब्धि को दूसरों में भी बाँटा जाय।

उनके जीवन काल में ही इसने जो रूप धारण किया, क्या वह उनकी इच्छा के अनुरूप था? यह बात निश्चित तौर पर कही जा सकती है कि शीघ्र ही जो संघर्ष आरम्भ हुए, वे उनकी योजना के अंग न थे। जब कोई महान् शक्ति उन्मुक्त होती है, तो उसे नियंत्रित करना किसी व्यक्ति के वश की बात नहीं है। मुस्लिम कबीलों ने पूरी एशिया को रौंद डाला और यूरोप के लिये भी उनसे खतरा पैदा हो गया था। स्पेन पर जीत हासिल करने के बाद उन लोगों ने वहाँ अपने विश्व-विद्यालय स्थापित किये, जिनमें तत्कालीन जगत् के सभी अंचलों के शिक्षार्थी आकृष्ट होकर आते थे। उनमें भारतीय ज्ञान तथा पूर्व की संस्कृति पढ़ायी जाती थी। इससे लोगों के दैनन्दिन जीवन में परिमार्जन, मृदुता और सौन्दर्य-बोध का भाव आया। वे लोग वहाँ छोड़ गये – अतुलनीय सौन्दर्य से युक्त सारसेनिक भवन, ज्ञान-विज्ञान की एक परम्परा और काफी परिमाण में प्राच्य की संस्कृति तथा प्रज्ञा।

❖ (क्रमश:) ❖
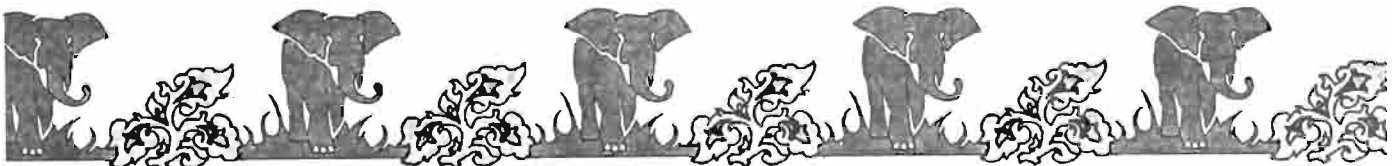
'विवेक-ज्योति' में वर्ष २००५ ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

❑❑❑

नम्र निवेदन

भगवान् श्रीरामकृष्ण का सार्वजनीन मन्दिर

प्रिय भक्तजन एवं सज्जनो !

स्वामी विवेकानन्द द्वारा संस्थापित रामकृष्ण संघ की एक शाखा, भारतवर्ष के मध्य-भाग में बसे हुए इस नागपुर में भी है। धन्तोली मुहल्ले में स्थित 'रामकृष्ण-मठ' नाम से विख्यात यह संस्था 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के आदर्शानुसार विगत ७४ वर्षों से अपनी विभिन्न गतिविधियों के साथ जनता की सेवा में निरत है।

भगवान् श्रीरामकृष्ण का वर्तमान सार्वजनीन मन्दिर तथा उससे संलग्न प्रार्थना-गृह अब जीर्ण-शीर्ण हो चुका है और उसकी दीवारों में दरारें पड़ चुकी है। अब यथाशीघ्र उसके स्थान पर एक नया मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त दिन-दिन भक्तों की संख्या में हो रही वृद्धि के फलस्वरूप भी कुछ समय से प्रार्थना-गृह में स्थान की कमी का बोध किया जा रहा है। अत: हमने पुराने देवालय-भवन के स्थान पर एक नये विशाल मन्दिर तथा प्रार्थना-गृह बनवाने का संकल्प किया है। इस भवन का निर्माण निम्नलिखित विवरण के अनुसार होगा –

मन्दिर की लम्बाई एवं चौड़ाई	**११७'×५८'**
मन्दिर की उँचाई	**६७'**
गर्भ-मन्दिर *(पूजागृह)*	**१८.५'×१८.५'**
उपासना कक्ष *(५०० भक्तों के बैठने के लिये)*	**६७'×४०'**
दोनों ओर के बरामदे	**६७'×५'**
मन्दिर-तलघर एवं सभाभवन	**९१.५'×५१'**

इसके अलावा फीजियोथेरपी यूनिट के ऊपर की मंजिल पर भी निर्माण-कार्य होगा।

इन समस्त निर्माण-कार्यों पर कुल मिलाकर लगभग तीन करोड़ रुपयों का खर्च आयेगा, जिसके लिए यह मठ जन-साधारण से प्राप्त होनेवाले दान पर ही निर्भर है। हमारा आपसे आन्तरिक अनुरोध है कि समग्र मानवता के आध्यात्मिक तथा सर्वांगीण उन्नयन हेतु प्रस्तावित इस योजना के लिए आप उदारतापूर्वक अंशदान करें।

आप सभी पर भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्दजी का आशीर्वाद वर्षित हो – इस प्रार्थना तथा शुभकामनाओं सहित –

प्रभु की सेवा में,

स्वामी ब्रह्मस्थानन्द

(स्वामी ब्रह्मस्थानन्द)
अध्यक्ष
रामकृष्ण मठ, धंतोली, नागपुर

कृपया ध्यान दें –
दान की राशि डी.डी./चेक द्वारा **रामकृष्ण मठ, नागपुर** के नाम पर भेजें। दान की राशि आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होगी। विदेशी मुद्रा में दिया गया दान भी स्वीकार किया जाएगा।

रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२
फोन : २५२३४२२, २५३२६९० ● फॅक्स : २५३७०४२